'माध्यम' के आलोचनात्मक योगदान का मूल्यांकन

(विवेचना का संदर्भ)

(एम० फिल० उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध)

शोध- निर्देशक

प्रो० मैनेजर पाण्डेय

शोधकर्त्ता

जोशी मिश्र

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नयी दिल्ली–110067

1993

जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI - 110067

21.7.93

प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री जोशी मिश्र द्वारा प्रस्तुत लघु शोध प्रबंध **'माध्यम** के आलोचनात्मक योगदान का मूल्यांकन' ('विवेचना' का विशेष संदर्भ) में प्रयुक्त सामग्री का **इस** विश्वविद्यालय अथवा अन्य किसी विश्वविद्यालय में इसके पूर्व किसी भी प्रदेय उपाधि के लिए उपयोग नहीं किया गया है। यह सर्वथा मौलिक लघु शोध प्रबंध है।

21.7.93

प्रो0 केदार नाथ सिंह,
अध्यक्ष,
भारतीय भाषा केन्द्र,
भाषा संस्थान,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली-110067

निर्देशक,
प्रो0 मैनेजर पाण्डेय,
भारतीय भाषा केन्द्र,
भाषा संस्थान,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली-110067

अनुक्रम

		पृष्ठ संख्या
1. भूमिका		2-3
2. प्रथम अध्याय :	माध्यम का आलोचनात्मक परिचय और विवेचना के महत्व का निरूपण	4-16
3. द्वितीय अध्याय:	कविता की आलोचना और विवेचना	17-49
4. तृतीय अध्याय:	कथा साहित्य की आलोचना और विवेचना	50-77
5. चतुर्थ अध्याय:	विचार की आलोचना और विवेचना	78-104
6. उपसंहार :		105-112
7. माध्यम की विषयानुक्रमणिका		113-134

xxx

भूमिका

'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' प्रयाग की ओर से 1964 से 1969 के बीच प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'माध्यम' हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता में मील का पत्थर सिद्ध हुई थी । लगभग पांच वर्षों के अपने अल्प-प्रकाशन काल में इस पत्रिका ने सर्जनात्मक साहित्य और आलोचना दोनों को समृद्ध किया । इसी के अन्तर्गत एक स्तंभ था 'विवेचना' का । इसमें अपने समय की किसी महत्वपूर्ण साहित्यिक कृति पर एक समर्थ समीक्षक का समीक्षात्मक आलेख छपता था तथा उस पर की गई प्रतिक्रियाएँ भी प्रकाशित होती थीं । ज्ञातव्य है कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से "विवेचना" नाम से मासिक गोष्ठी ही होती थी जो बाद में "माध्यम" के अंकों में इसी स्तंभ के अंतर्गत उसमें पढ़े गये निबंध तथा चर्चाएँ छपती थीं ।

मैंने अपने इस लघुशोध प्रबंध में "विवेचना" के तहत आलोचित कृतियों से संबंधित पढ़े गये निबंधों के आधार पर और परिचर्चाओं को दृष्टि में रखकर यह देखने का प्रयास किया है कि इससे आलोचना को नया क्या मिला ।

मेरे इस लघुशोध प्रबंध में कुल चार अध्याय हैं:-

1. "माध्यम" का आलोचनात्मक परिचय और "विवेचना" के महत्व का निरूपण ।
2. कविता की आलोचना और "विवेचना" ।
3. कथा-साहित्य की आलोचना और "विवेचना" ।
4. विचार की आलोचना और "विवेचना" ।

पहले अध्याय में मैंने "माध्यम"का परिचय देते हुए उसके महत्व को दिखलाया है तथा "विवेचना" से संबंधित कार्य करने की अपनी आवश्यकता सूचित की

है । दूसरे अध्याय में मैंने कविता की आलोचना में "विवेचना" की भूमिका को निरूपित किया है तथा तीसरे और चौथे अध्यायों में क्रमशः "कथा साहित्य आलोचना" और "विचार की आलोचना" के तहत ऐसे ही प्रयास हैं । अंत में "उपसंहार" में मैंने सारे अध्यायों का यथासंभव निष्कर्ष प्रस्तुत किया है ।

एक निश्चित समय के भीतर, "माध्यम" जैसी पत्रिका और "विवेचना" जैसे स्तंभ के तहत हिन्दी साहित्य की विशिष्ट कृतियों पर छपे निबंध तथा उन पर उठे हुए विवाद इतने विस्तृत और गंभीर हैं कि उनका परीक्षण कठिन है । ठीक ढंग से कार्य तो तब हो पाता जब मैं सारी मूल कृतियों और उन पर अन्यत्र छपीं सामग्रियों को भी पढ़ गया होता । पर समयाभाव और पृष्ठ सीमा को देखते हुए ऐसा संभव नहीं हो पाया । फिर भी यथा-सामर्थ्य जो बन पाया है, उसे प्रस्तुत कर रहा हूँ, इस वायदे के साथ कि भविष्य में जब भी अवकाश मिल सका, इस अधूरे कार्य को पूरे मनोयोग के साथ पूरा करूंगा ।

इस कार्य में मैं अपने शोध निर्देशक प्रो० श्री मैनेजर पाण्डेय का हृदय से विनम्र आभारी हूँ जिन्होंने मुझे इस दुष्कर कार्य को करने की न केवल प्रेरणा दी बल्कि हर समय अपनी बहुमूल्य सम्मतियों और सुझावों से मेरा मार्ग दर्शन किया । इसी क्रम में आभारी हूँ, "नटरंग" प्रतिष्ठान के अध्यक्ष और सुप्रसिद्ध रंग समीक्षक श्री नेमिचन्द्र जैन का, जिनके यहाँ "माध्यम" के सारे अंक मुझे मिले और समय-समय पर आवश्यक सुझाव-सलाह भी । अगर स्पष्ट कहूँ तो यह मानना पड़ेगा कि पत्रिका वहाँ उपलब्ध न हुई होती तो यह कार्य शायद संभव न हो पाता ।

लघुशोध प्रबन्ध के अंत में "माध्यम" में प्रकाशित सामग्रियों की अनुक्रमाणिका भी दी गई है, जिससे इस पत्रिका को उसकी सम्पूर्णता में समझना संभव हो सके ।

जोशी मिश्र

जोशी मिश्र
जवाहरलाल नेहरू विश्व विद्यालय

प्रथम अध्याय

माध्यम का आलोचनात्मक परिचय और विवेचना के महत्व का निरूपण

""माध्यम" का आलोचनात्मक परिचय और "विवेचना" के महत्व का निरूपण"

मई 1964 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने अपने सांस्थानिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये जब "माध्यम" नामक साहित्यिक मासिक का प्रकाशन आरम्भ किया तो इसकी पर्याप्त प्रशंसा हुई । 1964 का यह समय हिंदी साहित्य और पत्रकारिता के लिये कोई विशेष संकटपूर्ण नहीं था किंतु यह अवश्य था कि विभिन्न वादों/प्रतिवादों की ज़ोरदार लहर चल रही थी । साहित्य की विभिन्न विधाओं में नारों, पूर्वग्रहों और आंदोलनों की भूमिका लक्षित होने लगी थी । आलोचना प्रगतिशीलता और प्रयोगवादिता दोनों के तनाव में अपना स्वरूप स्थिर कर रही थी । देश के स्वतन्त्र होने के सत्रह वर्ष बाद भी हिन्दी अपनी जगह बना पाने में विफल रही । यह वह समय था जब देश रंगीन सपनों की दुनिया से बाहर आ गया था । द्वितीय विश्वयुद्ध, भारत-विभाजन और चीन-भारत के अप्रत्याशित युद्ध ने मनुष्यता को संदेह के कटघरे में खड़ा करने के साथ-साथ भविष्य के प्रति शंकालु बना दिया था । अंग्रेजी के दिन-प्रतिदिन बढ़ रहे वर्चस्व ने हिन्दी की स्थिति को और बिगाड़ दिया था ।

ऐसे समय में हिंदी साहित्य सम्मेलन ने हिंदी के प्रचार-प्रसार में एक ऐसी पत्रिका के प्रकाशन की आवश्यकता महसूस की जो हिंदी को उसका यथोचित सम्मान दिलाने के साथ-साथ समग्र भारतीय साहित्य को एक मंच पर लाकर विभिन्न भाषा-भाषियों के बीच की खाई को पाट सके । विभिन्न अधिवेशनों, परिचर्चाओं और पुस्तकों के अन्धाधुन्ध प्रकाशन के बावजूद सम्मेलन के लिये अपना अभीष्ट पाना कठिन हो रहा था । हालांकि आलोचना और सर्जनात्मक साहित्य को समृद्ध करने की दिशा में "आलोचना", "कल्पना" और "ज्ञानोदय" जैसी विशिष्ट पत्रिकाओं के साथ-साथ और भी कई पत्रिकाएँ लगी थीं । ज्ञातव्य है कि इनका अपना महत्व प्रमाणित हो चुका था । ऐसे में "माध्यम" का प्रकाशन कोई ऐसी महत्वपूर्ण घटना नहीं थी, जिससे समूचा हिंदी जगत चौंकता या चमत्कृत होता । फिर भी यह स्वीकार

करने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि "माध्यम" जैसी गंभीर साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ कर हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने अपने सांस्थानिक उद्देश्यों की पूर्ति की दिशा में एक सार्थक कदम उठाया और हिंदी पत्रकारिता की कड़ी में एक गंभीर, वैचारिक और बिल्कुल नए तेवर की पत्रिका जुड़ी । बालकृष्ण राव जैसे सुलझे हुए साहित्यिक को इस पत्रिका के संपादन का दायित्व देकर साहित्य सम्मेलन ने यह तो जतला ही दिया था कि "माध्यम" गंभीर वैचारिक संवादों का सिलसिला ज़ारी रखेगा और हर तरह की दृष्टियों की सार्थकता को महत्व देगा ।

"माध्यम" के प्रवेशांक (मई 1964) में "यह पत्र" शीर्षक संपादकीय में बालकृष्ण राव ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से निकलने वाली इस पत्रिका को उसके एक संकल्प की पूर्ति बताया था और इसके प्रकाशन को सम्मेलन की स्थापना के उद्देश्य में सहायक होने की बात कही थी- "माध्यम" के प्रकाशन के साथ हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम शासन निकाय का एक महत्वपूर्ण संकल्प क्रियान्वित हो रहा है । पर यह सिद्धि का उद्घोष नहीं, साधना के आरम्भ की सूचना मात्र है । सम्मेलन की स्थापना जिन उद्देश्यों से की गई थी, जिन लक्ष्यों को प्राप्त करने का उसका प्रयास पिछली अर्धशती के हिन्दी आंदोलन का इतिहास है, वे आज भी हमारे सामने हैं ।[1]" "माध्यम" के प्रकाशन का मुख्य उद्देश्य हिन्दी को सही मायने में राष्ट्रभाषा बनाने की है, इस पर बल देते हुए बालकृष्ण राव ने आगे लिखा- "भले ही हमने अनेक क्षेत्रों, अनेक दिशाओं में संतोषप्रद ही नहीं आश्चर्यजनक प्रगति कर ली हो, पर क्या सचमुच हम दावा कर सकते हैं कि हिन्दी ने अपना अपेक्षित स्थान प्राप्त कर लिया है । आज हिन्दी की स्थिति "अपने ही घर में प्रवासिनी" की न भी हो तो भी क्या वह अपने घर में गृह स्वामिनी बन गई है ? क्या हमें संतुष्ट और आश्वस्त और निचेष्ट हो जाने का कोई अधिकार है ।[2]"

"माध्यम" के संपादक के इस विचार में हिंदी को लेकर कितनी बेचैनी है इस का अंदाजा लगाना कठिन नहीं है । सातवें दशक के आरम्भ की यह बेचैनी क्या हमें आज भी चैन से रहने देती है ? तब तो उम्मीद की लौ बरकरार

थी और समर्पित लोगों की एक लम्बी क़तार मौजूद थी, जिसने स्वाधीनता संघर्ष सहित रचनात्मक आंदोलनों को जीवित रखी थी । पर आज जो स्थिति है वह हमें कहीं भी आश्वस्त देती है ?

बालकृष्ण राव ने तत्कालीन प्रश्नों पर अपनी टिप्पणी देते हुए आगे कहा था- "इन प्रश्नों का उत्तर एक ही हो सकता है- कदापि नहीं । यही नहीं कि हम स्वतन्त्रता प्राप्ति के सत्रह वर्ष बाद भी हिन्दी को उसका समुचित स्थान दिलाकर राष्ट्र-मानस को मुक्त नहीं करा पाये, हम आज भी विश्वास के साथ यह कहने की स्थिति में नहीं हैं कि निकट भविष्य में लक्ष्य-सिद्धि के निकट पहुंचने जा रहे हैं । सच तो यह है कि देश के स्वतन्त्र होने के बाद की कहानी हमारे उत्तरोत्तर अधिकाधिक निष्क्रिय और परावलंबी होते जाने की कहानी है । संविधान में हिन्दी राजभाषा के रूप में स्वीकृत हो गई, संविधान में ही इसका प्रावधान हो गया कि हिन्दी के अभ्युत्थान और प्रसार का दायित्व केन्द्रीय शासन को वहन करना है, और हमें मानो छुट्टी मिल गई । समय-समय पर केन्द्रीय तथा प्रांतीय शासन को दोष और चेतावनी देने, यदाकदा हिन्दी के समर्थन में जोरदार भाषण देने, वर्ष में एक बार "हिन्दी दिवस" मनाने, और हिन्दी के नाम पर थोड़ा बहुत धन कमा लेने के सिवा पिछले दशक में हमने किया ही क्या है ? अभाग्यवश हिन्दी साहित्य सम्मेलन भी इसी अवधि में राहुग्रस्त-सूर्य-सा निस्तेज और निष्प्रभाव पड़ा रहा । हिन्दी का मंच सूना रहा, हिन्दी का सबल प्रतिनिधि स्वर मूक रहा ।[3]"

बालकृष्ण राव की उपर्युक्त पंक्तियों से हिन्दी की निराशाजनक स्थिति के साथ-साथ तत्कालीन हिन्दी प्रेमियों की उदासीनता का पता चलता है । हिन्दी साहित्य सम्मेलन की भूमिका जिस तरह निरर्थक होने को थी और अपने उद्देश्यों से भटक जाने वाली थी, उसमें "माध्यम" के प्रकाशन के साथ यह सम्भावना बनी कि सम्मेलन को भटकाव से बचाया जा सकेगा । हिन्दी को सबल प्रतिनिधित्व देने और उसके स्वर को उठाए रखने की दिशा में "माध्यम" का प्रकाशन महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है । ऐसा बालकृष्ण राव

को विश्वास था । सम्मेलन की सफलता-असफलताओं के बीच "माध्यम" का प्रकाशन क्या कुछ संभव कर सकता है, इस पर राव ने लिखा- "यदि इस पत्र का प्रकाशन सम्मेलन की ग्रासमुक्ति का सूचक सिद्ध हो तो निश्चय ही वह अपने "माध्यम" नाम को सार्थक करने की दिशा में अग्रसर हो सकेगा । ऐसा हो सकेगा या नहीं यह तो भविष्य बतायेगा, पर वर्तमान प्रथम शासन निकाय ने इस विश्वास के बल पर ही "माध्यम" का प्रकाशन आरम्भ करने का निश्चय किया है कि सम्मेलन के पूर्णतया स्वस्थ और सक्रिय होने की घड़ी आ गई है कि उसे दृढ़तापूर्वक और आत्म-विश्वास के साथ आगे बढ़ना है । पिछली अर्धशती सम्मेलन ने हिन्दी जगत में जो स्थान प्राप्त किया, हिन्दी के आंदोलन में उसका जो अमूल्य योगदान हुआ, वह उसकी परीक्षाओं, उपाधियों आदि के कारण नहीं, उसके विराट् अधिवेशनों के कारण संभव हुआ । सम्मेलन का वास्तविक महत्व यह नहीं रहा कि उसके द्वारा आयोजित परीक्षाओं की लोकप्रियता निरन्तर बढ़ती रही, न यह कि उसने अनेक गौरव ग्रंथों का प्रकाशन किया, अनेक विद्वानों को सम्मानित किया, उसका महत्व यह रहा कि उसके स्वर की गरिमा को शक्ति दी । "माध्यम" सम्मेलन के पुनर्जागरण का प्रतीक है । वर्षों से उजड़े हुए हिन्दी के मंच के पुनर्गठन का उपोद्घात है, हिन्दी की विकीर्ण शक्तियों को एकत्र और केंद्रित करने के प्रयास का शुभारम्भ है, हिन्दी के प्रतिनिधि स्वर के मौन भंग का प्रमाण है ।[4]"

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दी साहित्य की पुरानी महत्ता को कायम करने और उसके उद्देश्यों में सहायक बनने की गरज़ से "माध्यम" का प्रकाशन शुरू हुआ जिसे बालकृष्ण राव ने सम्मेलन के पुनर्जागरण का प्रतीक कहा। बाद की पंक्तियों से यह भी ज़ाहिर होता है कि "माध्यम" के प्रकाशन के कुछ वर्ष पूर्व तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन बिल्कुल निष्क्रिय था और "माध्यम" के प्रकाशन से यह उम्मीद लगाई गई थी कि इससे हिन्दी के उजड़े मंच फिर से बस जायेंगे । बालकृष्ण राव का यह कथन कि "माध्यम" का प्रकाशन हिन्दी के प्रतिनिधि स्वर के मौन भंग का प्रमाण है, यह स्पष्ट करने के लिए काफी

है कि इस पत्रिका को लेकर किस हद तक उम्मीद और विश्वास था ।

अपने संपादकीय की अंतिम पंक्तियों में बालकृष्ण राव ने "माध्यम" के प्रकाशन की अनिवार्यता दिखलाई है और यह कहा है कि सम्मेलन अधिवेशनों और परीक्षाओं के माध्यम से जो न कर सका था वह "माध्यम" के कारण संभव हो सकेगा । बालकृष्ण राव के ही शब्दों में- "अपने अधिवेशनों के द्वारा सम्मेलन ने जो कार्य किया वह उन्हीं के द्वारा किया जा सकता था । उस कार्य की आज भी उतनी ही आवश्यकता है, जितनी पहले थी । सम्मेलन के प्रथम शासन निकाय ने अधिवेशनों की परम्परा के पुनरारम्भ का निश्चय कर लिया है और आशा है कि यह निश्चय इसी वर्ष कार्यान्वित भी हो जायेगा। पर आज की स्थिति में सम्मेलन के लिए उतना ही कार्य पर्याप्त न होता-उसके प्रकाशनों, उसकी परीक्षाओं और अंतत: उसके वार्षिक अधिवेशनों से भी हिन्दी का एक क्षेत्र प्राय: अछूता ही रह जाता । उसे हिन्दी के जीवंत साहित्य का संस्पर्श प्राप्त न हो पाता और उस संस्पर्श के बिना सम्मेलन क्या सचमुच सभी स्तरों पर और सभी क्षेत्रों में हिन्दी का प्रतिनिधित्व कर सकता ।

"माध्यम" के प्रकाशन से ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन के नाम में आया हुआ "साहित्य शब्द सार्थकता प्राप्त करेगा क्योंकि यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि सम्मेलन अब तक समकालीन साहित्य से सर्वथा विच्छिन्नही रहा है, फिर भी, अन्य क्षेत्रों में उसके कार्य की तुलना में, समकालीन साहित्य धारा से सम्मेलन कुछ कटा-कटा-सा जान पड़ता है । और यह निश्चित बात है कि किसी भी जीवित भाषा के साहित्य का वर्चस्व उसके जीवंत प्रवाह से अभिषिक्त होकर ही पूरी तरह निखर सकता है । "माध्यम" सम्मेलन को समकालीन साहित्य से मिलानेवाला संबंध सेतु हैं ।[5]"

आगे बालकृष्ण राव "माध्यम" के बारे में लिखते हुए कहते हैं- "माध्यम" का उद्देश्य हिन्दी जगत का नेतृत्व करना नहीं है- जैसा उसके नाम से और "निमित्त मात्रं भव" के उसके मूलमंत्र से स्पष्ट है, उसका ध्येय केवल यही है कि उसके माध्यम से हिन्दी का स्वर प्रत्येक दिशा में फैलेऔर देश के कोने

कोने तक पहुंचे, उसके निमित्त से हिन्दी के विराट् और उदात्त वाङ्मय के प्रति अधिकाधिक व्यक्ति आकृष्ट हों, उसकी सहायता से हिन्दी जगत में हिन्दीतर भारतीय साहित्यों की जानकारी उत्तरोत्तर बढ़ती रहे । "माध्यम" हिन्दी जगत से स्नेह और सहयोग की प्रार्थना करता है । साथ ही वह आश्वासन भी देता है कि प्रार्थित स्नेह-सहयोग के लिए अपनी अहर्ता को अक्षुण्ण रखना उसकी रीति-नीति का चरम लक्ष्य होगा ।[6]"

इस प्रकार हम देखते हैं कि "माध्यम" का प्रकाशन एक संकल्प के तहत संभव हुआ जिसका लक्ष्य रखा गया था-हिन्दी का उसके सर्जनात्मक साहित्य के स्तर पर प्रचार-प्रसार और उसके माध्यम से समग्र भारतीय साहित्य का साक्षात्कार ।

"माध्यम" का यह उद्देश्य बहुत हद तक पूरा हुआ पर अपेक्षा के अनुरूप उसे सफलता नहीं मिली । इस अपेक्षित सफलता के न मिलने के अनेक कारणों में एक प्रमुख कारण यह भी था कि उसे कुछ ही वर्षों में बंद करने का दु:खद निर्णय लेना पड़ा था । लेकिन इस बात से इन्कार कर पाना संभव नहीं है कि उसने बहुत कम समय में अपनी विशिष्ट छवि बना ली थी । हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता के इतिहास में यह सौभाग्य बहुत कम पत्रिकाओं को हासिल हुआ था ।

"माध्यम" के प्रकाशन के संकल्प को इस बात से बखूबी समझा जा सकता है कि इसे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की जन्मशती पर ही ज़ारी करने की योजना बनी । द्विवेदी जी को श्रद्धांजलि देते हुए बालकृष्ण राव ने "माध्यम" के लिए द्विवेदी जी के अधूरे कार्यों को पूरा करने का संकल्प लेते हुए लिखा है कि- "इस अवसर पर आचार्य द्विवेदी की पुण्य स्मृति में श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए हम उनकी कर्त्तव्य-निष्ठा को याद करें और उनके अधूरे कार्य को पूरा करने के लिए कृतसंकल्प होकर आगे बढ़ें ।[7]"

इस बात में तनिक भी संदेह नहीं है कि "माध्यम" ने अपनी कृत संकल्पता को पूरी करने की कोशिश नहीं की । अपने पाँच वर्षों के प्रकाशन काल में उसने हिन्दी साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। हिन्दी का व्यापक प्रचार-प्रसार किया । भारतीय साहित्य से व्यापक हिन्दी पाठकों को परिचित कराया और एक अर्थ में राष्ट्रीय एकता की मज़बूती को आधार प्रदान किया । साहित्यिक तथा सांस्कृतिक स्तर पर चल रहे विभिन्न बहस मुबाहिसों को सार्थक दिशा की ओर मोड़कर "माध्यम" ने वैचारिक संवाद की निरन्तरता को प्रश्रय दिया । बिना किसी आग्रह के इसने सभी तरह के सर्जनशील रचनाकारों को महत्व देकर एक तरफ तो उन्हें प्रोत्साहित किया तो दूसरी तरफ साहित्यिक जागरूकता पैदा कर स्वस्थ साहित्यिक वातावरण बनाने में मदद दी । "माध्यम" का महत्व इसलिए भी है कि इस पत्रिका ने न केवल साहित्य वरन् कला, संस्कृति, पत्रकारिता, सिनेमा के क्षेत्र में सार्थक हस्तक्षेप किया बल्कि उनके परस्पर संबंधों की तह तक जाने की कोशिश भी की ।

मई 1964 से जुलाई 1969 तक "माध्यम" के जो तिरसठ अंक निकले, उनका कई दृष्टियों से महत्व है । नियमित रूप से साहित्यिक-सांस्कृतिक विषयों पर गंभीर लेख, परिचर्चाएँ आदि के प्रकाशन के साथ-साथ कविताएं और कहानियाँ भी प्रकाशित होती थीं । संस्मरण, यात्रावृत्त तथा दूसरी विधाएं भी स्थान पाती थीं । पर जिन दो स्तम्भों के कारण "माध्यम" शेष सभी पत्रिकाओं से भिन्न बनी रही और अपनी महत्ता सिद्ध कर सकी वे स्तंभ थे- "विवेचना" और "सहवर्ती-साहित्य" । ज्ञातव्य है कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से "माध्यम" के प्रकाशन के साथ-साथ जो दूसरा महत्वपूर्ण निर्णय लिया गया था, वह था- "विवेचना" नाम से एक मासिक साहित्यिक गोष्ठी का । हर महीने होने वाली इस गोष्ठी की विशेषता यह थी कि किसी विशिष्ट कृति पर एक अधिकारी विद्वान अपना पर्चा पढ़ते थे और उसके उपरांत उस पर ज़ोरदार बहस होती थी । बाद में पढ़ा गया पर्चा, उस पर हुई टिप्पणियाँ आदि "विवेचना" स्तंभ में छपते थे । यह आयोजन

अपने आप में अकेला आयोजन था, जिसने हिन्दी आलोचना को संवादों की निरंतरता में समृद्ध किया । कई कृतियों पर नए सिरे से सोचने की प्रेरणा दी और उस समय के सारे महत्वपूर्ण लेखकों/आलोचकों को एक मंच पर लाकर "विवेचना" ने स्वस्थ साहित्यिक बहस को संभव बनाया । यह कार्य केवल "माध्यम" से ही हो सका, इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है । हालांकि इलाहाबाद की ही "परिमल" संस्था ने कोई कम ऐतिहासिक भूमिका अदा नहीं की पर चूंकि बात संस्था और पत्रिका की एकात्मकता के तहत के परिणाम पर हो रही है, इसलिए इस सच्चाई को स्वीकार कर लेना अनुचित नहीं लगता ।

दूसरा चर्चित स्तम्भ "सहवर्ती साहित्य" का रहा । इस स्तम्भ के अंतर्गत "माध्यम" ने प्रत्येक अंक में किसी एक भारतीय भाषा पर विशेष सामग्री प्रकाशित कर हिन्दी पाठकों को भारतीय साहित्य की समग्रता की पहचान कराई । तमिल, मलयालम, बांग्ला, कन्नड़ आदि भाषाओं पर प्रकाशित सामग्रियों को पढ़ने के बाद जहाँ अपनी साहित्यिक व्यापकता का बोध होता है वहीं हम प्रांत और भाषा की दीवारें लांघते हुए एक-दूसरे की निकटता पाने लगते हैं । आन्ध्र और केरल पर केन्द्रित "माध्यम" के विशेषांक तो दोनों प्रदेशों पर एकाग्र पूरी किताब ही हो गये हैं । यह ऐतिहासिक कार्य नियमित रूप से केवल "माध्यम" ने किया । इसलिए भी वह महत्वपूर्ण पत्रिका बन सकी ।

इसके अतिरिक्त "प्रतिपत्तिका", "अभिमत" गोष्ठियों की रिपोर्ट से संबंधित स्तम्भ आदि के कारण "माध्यम" ने बहुत कम समय में जो छवि निर्मित की थी वह अद्भुत थी । "माध्यम" का हर अंक स्तरीय रचनाओं से भरा होता था जिसमें हिन्दी की अपनी रचनाओं के साथ-साथ अंग्रेजी तथा हिन्दी के अलावा किसी भी एक भारतीय भाषा पर केंद्रित पर्याप्त ज्ञानवर्धन सामग्री होती थी । और तो और लेखकों/पाठकों के पत्र भी कम पठनीय या कम विचारोत्तेजक नहीं होते थे । "माध्यम" का इस स्तर पर जो महत्व बना वह निर्विवाद है । उसने हिन्दी को उसकी जगह दिलाने की कोशिश के साथ

साथ वैचारिक संवादों और गंभीर चिंताओं का दौर भी चलाया जिससे प्रबुद्ध कहे जाने वाले लोग भाषा, संस्कृति तथा साहित्य की एकात्मकता को सुरक्षित रखते हुए उसके पददलन पर जागें । किन्तु वे ऐसा न कर सके तो इसमें "माध्यम" का क्या अपराध है । "माध्यम" के प्रवेशांक से लेकर अवसान अंक तक गुजरने के बाद यह कहीं भी नहीं लगता कि यह पत्रिका अपने संकल्पों से भटकी है । हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम शासन निकाय के अध्यक्ष श्री प्रकाश की प्रवेशांक के समय दी गयी शुभकामना को "माध्यम" ने अंत तक पूरा किया । संदेश था- "मेरी शुभकामना है कि "माध्यम" के द्वारा हिन्दी संसार में विविध शास्त्रों के ज्ञान की वृद्धि हो और अच्छे से अच्छे लेखकों को प्रोत्साहित किया जा सके जिससे वे हिन्दी साहित्य की वास्तविक वृद्धि में सहायक हो ।[8]"

"माध्यम" ने अपने को निरंतर सृजनात्मकता से जोड़कर कविता, कथा साहित्य, आलोचना और परंपरा के बीज मूल्यों को अक्षुण्ण रखते हुए, विभिन्न वैचारिक बहसों के माध्यम से आलोचना की समृद्धि की । इस स्तर पर "माध्यम" के आलोचनात्मक योगदान को एक महत् उपलब्धि माना जा सकता है । हिन्दी आलोचना की पारंपरिक परिपाटी से हटकर "माध्यम" ने रूढ़िमुक्त संवादों का जो सिलसिला चलाया उससे न केवल बौद्धिक उत्तेजना का माहौल बना बल्कि साहित्यिक हलके में बौद्धिक जागरूकता का वातावरण निर्मित हो सका । "आलोचना", "कल्पना" और "ज्ञानोदय" जैसी हिन्दी की स्तरीय, उत्कृष्ट और रचनात्मक सोचों वाली तत्कालीन पत्रिकाओं से "माध्यम" इस अर्थ में अलग दिखाई पड़ती है कि उसके वहाँ भेदभाव, दृष्टदोष या पूर्वग्रहों की भूमिका इतनी महत्वपूर्ण नहीं रही कि वे पत्रिका के चरित्र को प्रभावित कर सकें । निसंदेह हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता में "माध्यम" अपनी निजी विशेषताओं के कारण सदैव महत्वपूर्ण बनी रहेगी ।

"विवेचना" के महत्व का निरूपण

जैसाकि मैंने पहले ही संकेत किया है कि "माध्यम" का महत्व जिन विशिष्ट आयोजनों के कारण स्थायी रूप से सुरक्षित हो गया है उनमें "विवेचना" सर्वोपरि है । ज्ञातव्य है कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से "विवेचना" नाम से एक मासिक साहित्यिक गोष्ठी का आयोजन इलाहाबाद में होता था । इस गोष्ठी में किसी नवप्रकाशित चर्चित कृति पर एक अधिकारी विद्वान मुख्य समीक्षात्मक निबंध पढ़ता था तथा उस पर सुधी साहित्यकारों तथा समीक्षकों द्वारा टिप्पणियाँ की जाती थीं । "माध्यम" के प्रत्येक अंक में "विवेचना" स्तम्भ के अंतर्गत मुख्य निबंध सहित तमाम टिप्पणीकारों की प्रतिक्रियाएं भी प्रकाशित होती थीं । ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि यह गोष्ठी अपने आप में अकेली थी पर यह कहना गलत नहीं लगता कि इसकी कुछ अपनी निजी विशेषताएं थीं जो दूसरी गोष्ठियों से इसे अलग करती थीं । कविता, कहानी, उपन्यास, संस्मरण सहित साहित्य की सर्जनात्मक विधाओं की कृतियों के साथ-साथ इस गोष्ठी में भाषा विज्ञान तथा कुछ दूसरे ज्ञान निकायों की कृतियों पर भी सार्थक संवाद होता रहा । इस गोष्ठी की एक और महत्वपूर्ण विशेषता यह भी थी कि इसमें प्राय: प्रत्येक साहित्यकार यह कोशिश करता था कि कृति और कृतिकार पर बात करते हुए वह स्वयं को विषयान्तर होने से बचाए और कृति को उसकी आंतरिक निर्मिति तथा उस की समग्रता में देख सके ।

"विवेचना" की आरंभिक गोष्ठी से लेकर अंतिम गोष्ठी तक हिन्दी के तत्कालीन सुधी आलोचकों की सक्रिय और स्वस्थ भागीदारी रही थी । इन लोगों में देवीशंकर अवस्थी, नेमिचंद्र जैन, राम स्वरूप चतुर्वेदी, नामवर सिंह, विद्यानिवास मिश्र, इंद्रनाथ मदान, जगदीश गुप्त, बालकृष्ण राव, रघुवंश, श्रीकांत वर्मा, रमेशचंद्र शाह, भारत भूषण अग्रवाल आदि उल्लेख्य नाम हैं । जिन महत्वपूर्ण कृतियों पर चर्चाएं हुईं, उनमें मुख्य थीं - चारु चंद्रलेख, समय और हम, यह पथ बंधु था, अपने-अपने अजनबी, एक साहित्यिक की डायरी,

भाषा और समाज, अंधेरे बंद कमरे, झूठा सच, बूंद और समुद्र, उर्वशी, मछलीघर, सागर, लहरें और मनुष्य आदि ।

"विवेचना" में कृति और कृतिकार के आपसी संबंधों, रचना की परिस्थितियों, रचना में शामिल सामाजिक सरोकारों, समय और समाज की निहित जटिलताओंतथा रचना की आंतरिक निर्मिति की उत्कृष्टताओं परसार्थक और उत्तेजक संवाद होता था । "विवेचना" में पढ़े गये निबंधों तथा की गई प्रतिक्रियाओं पर ध्यान देने के बाद यह महसूस होता है कि मुख्य समीक्षक तथा टिप्पणीकारों की यह अंत तक कोशिश रहती थी कि रचना के मूल्यांकन में वे पर्याप्त तटस्थता की नीति अपनायें । लेकिन यह तटस्थता इस कदर की नहीं थी कि कृति के प्रति निजी पसंद-नापसंद को आधार बनाकर अपनी राय थोंप दी जाये । रचना की संवेदनात्मक मांग और सूक्ष्मान्वेषी दृष्टि की पहचान को मूल्यांकन का आधार बनाया जाता रहा जो हिन्दी आलोचना के लिए एक सार्थक कदम था । कहना न होगा कि हिन्दी आलोचना आज शायद इसीलिएबदनाम है और करारे प्रहारों का कोप झेल रही है कि उसने व्यक्तिगत रूचियों के आधार पर कृतियों को देखने की नीति अख़्तियार कर ली है ।

"विवेचना" की सार्थकता इसलिए भी है कि उसने तमाम वैचारिक दूराग्रहों और पूर्वग्रहों को भूलकर हर तरह की कृतियों को उसका समुचित सम्मान दिया और हर तरह की वैचारिक प्रतिबद्धताओं से आए विद्वानों को प्रतिभागी बनाया । मुझे यह भी लगता है कि "विवेचना" में आलोचना के जो मानदंड स्थापित हुए थे वे शायद नए थे और नएपन में भी वे इतने गहरे थे कि उससे हिन्दी आलोचना में नयी ताजगी का अहसास हुआ । हालांकि यह ताजगी बहुत दिनों तक हमें नहीं मिल सकी पर जो मिली वह ही कम महत्वपूर्ण नहीं थीं । किसी एक स्तम्भ के कारण कोई पत्रिका, किसी एक गतिविधि की निरंतरता के कारण अगर कोई संस्था जानी जाने लगती है तो यह कम आश्चर्यजनक बात नहीं मानी जा सकती । "विवेचना" स्तम्भ के कारण "माध्यम" और "विवेचना" की गोष्ठियों के कारण हिन्दी साहित्य सम्मेलन

प्रयाग के साथ ऐसी ही बात है । वर्षों से जिस हिन्दी आलोचना में शुष्क और नीरस मूल्यांकनों का सिलसिला चल रहा था, निरंतर वैयक्तिक उद्-घोषणाओं से कृति की जहाँ एक ओर प्रशस्ति होती थी वहीं दूसरी ओर निंदात्मकता का दौर भी चल रहा था ; वहीं "विवेचना" ने सम्भाव अपनाते हुए कृति पर केन्द्रित होकर पूर्वग्रह मुक्ति की जो परम्परा शुरू की उससे निसंदेह हिन्दी आलोचना की अविश्वसनीय होती छवि को विश्वस-नीयता का संबल मिला ।

यह कहकर हम यह भ्रम नहीं पाल रहे कि शेष साहित्यक पत्रिकाएं या संस्थाएं ऐसा कुछ भी नहीं कर पा रही थीं जो साहित्य की सर्जनात्मकता या आलोचनात्मकता का विकास संभव हो । अनेकों पत्रिकाओं और संस्थाओं के द्वारा उस समय ऐसा लगातार प्रयास हो रहा था जिससे साहित्य के कई आयामों को व्यापक और समृद्ध बनाने में मदद मिल रही थी । किन्तु "विवेचना" का यह प्रयास अपने स्तर पर अकेला प्रयास था यह कहने में हमें संकोच नहीं होता ।

यह देखना भी कम दिलचस्प नहीं है कि "विवेचना" की गोष्ठियों में उस समय की उन तमाम चर्चित कृतियों पर चर्चाएँ हुई जिन कृतियों ने अपने समय को सबसे ज्यादा प्रभावित किया । ये कृतियाँ उस समय ही नहीं, बल्कि आगामी युगों तक भी अपनी सार्थक उपस्थिति बनाये रखेंगी । "विवेचना" का महत्व इस कारण भी है कि इन युगांतरकारी कृतियों पर समग्र मूल्यांकन की कोशिशें हुई । कहना न होगा कि हिन्दी आलोचना को इससे कितना बल मिला । "विवेचना" की पहली ही गोष्ठी में यह प्रस्ताव पारित हुआ था कि प्रत्येक गोष्ठी में हिन्दी एक विशिष्ठ कृति पर विचार-विमर्श हुआ करेगा । इस विचार-विमर्श में कृति पर पढ़ा गया मुख्य निबंध सहायक होगा तथा उसी से विषय प्रवर्तन हुआ करेगा । तदंतर अन्य सदस्यगण अपना अभिगत प्रस्तुत किया करेंगे ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि "विवेचना" की गोष्ठियाँ स्तरीय कृतियों पर समग्र मूल्यांकन के लिये होती थीं जिसमें कृतिकारों की वैचारिकता का आधार न होकर कृति की उत्कृष्टता का आधार होता था ।

संदर्भ सूची

1. "माध्यम" के प्रवेशांक में संपादक बालकृष्ण राव का "यह पत्र" शीर्षक संपादकीय से उद्धृत, पृष्ठ 4, मई 1964
2. वही, पृष्ठ 4
3. वही, पृष्ठ 4
4. वही, पृष्ठ 4, 5
5. वही, पृष्ठ 5
6. वही, पृष्ठ 6
7. संपादकीय का दूसरा चरण "श्रद्धांजलि" पृष्ठ 6
8. प्रवेशांक (मई 1964) हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम शासन निकाय के अध्यक्ष श्री प्रकाश का संदेश, पृष्ठ 4

****

द्वितीय अध्याय

कविता की आलोचना और विवेचना

कविता की आलोचना और "विवेचना"

हमारे यहाँ कविता की सबसे समृद्ध और लंबी परंपरा रही है । इस व्यापक काल खण्ड में कविता की भाषा, भाव, शिल्प तथा आंतरिकता में अनेकानेक परिवर्तन आये । यह कोई आश्चर्य या विस्मय का विषय हो भी नहीं सकता कि विभिन्न काल खण्डों की कविताओं में परिवर्तन क्यों हुआ । रचना परिवेश और सांस्कृतिक आचरण से नियत होती है । वह परम्परा से सूत्र तो ग्रहण करती है पर अपने जीवन और जगत की स्थितियों से उसकी व्याख्या करती है । जिस रचना में यह बोध जितना गहरा होता है वह रचना उतना ही प्रभावित करती है । वैदिक, लौकिक संस्कृत की काव्य परंपरा और फिर पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा मध्ययुगीन कविताओं से गुजरते हुए जब भारतेन्दु युग पर दृष्टि जाती है तो इस पूरी प्रक्रिया की आंतरिकता प्रकट हो जाती है ।

भारतेन्दु युग की कविता-यात्रा कई स्तरों पर संघर्षरत है । एक तरफ तो रीतिकालीनता की पीठिका के अवशेष उसे भटकाव का लालच देते हैं तो दूसरी तरफ ब्रज और अवधी भाषा की पारंपरिकता उसे विचलित करने की कोशिश करती है । पराधीन भारत और फटेहाल भारतीय इस युग के कवियों को द्रवित करते हैं तो अंग्रेजी राज की प्रशंसा भी होती है । वह अपने युग के सारे सवालों को अपने स्तर से देखती है । उसका विश्लेषण करती है । इस क्रम में वह कहीं प्रचलित मूल्यों के विरुद्ध होती है तो कहीं पक्ष में । पर दोनों ही रूपों में वह व्यापक मानवीय हितों की तरफदार होती है । यह कथन कौतुहल भरा लग सकता है कि जिसे हम आधुनिकता-बोध या युग का विडम्बना-बोध कहते हैं वह सर्वप्रथम कविता के स्तर पर भारतेन्दु युगीन कविता से ही लक्षित किया जा सका । इस बोध का स्वरूप द्विवेदी युग में थोड़ा बदला । वहाँ उसकी छवि में उपदेश और उद्‌बोधन का स्वर भी आ मिला । इस युग में स्वाधीनता की लहर कुछ तेज हो चली थी और देश की जनता में आत्म गौरव की पुरानी परंपरा के प्रति प्रेम का संचार होने लगा

था । मैथिलीशरण गुप्त का आदर्श अगर वैष्णव दर्शन रहा, राम राज्य का भाव रहा तो इसके मूल में अतीत की गौरवशाली परम्परा ही रही ।

छायावाद ने द्विवेदी युग की काव्यगत इतिवृत्तात्मकता के विरूद्ध विद्रोह किया । भाषा और भाव के स्तर पर इस युग ने हिन्दी कविता को पर्याप्त व्यंजक बनाया । पश्चिम की स्वच्छंदतावादी धारा के प्रभाव में और बंगाल के नवरहस्यवाद की छाया के कारण इस काव्यधारा में वायवीय कल्पना का दबाव अधिक हुआ । कहना न होगा कि इसी के परिणामस्वरूप छायावाद को सामाजिक सरोकारों की चिन्ता कम रही । प्रेम, प्रकृति, नारी, वियोग, वेदना और असीम के प्रति अतिशय रागात्मकता तथा ध्वनियों की व्यंजकता के कारण छायावाद की कविता-धारा ऐसी मुकाम पर जा खड़ी होती है जहाँ वह कविता को नये स्तर से जोड़ती है ।

छायावाद के बाद प्रेम-मस्ती तथा राष्ट्रीय चेतना का दौर आता है जहां बच्चन, नवीन, नरेन्द्र शर्मा तथा दिनकर सरीखे कवि आते हैं और अपने अलग-अलग अंदाज़ों से हिन्दी कविता को प्रभावित करते हैं

1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के बाद हिन्दी कविता में प्रगतिवादी कविता का दौर शुरू हुआ । इस दौर में मार्क्सवादी मूल्यों पर आधारित समाज-व्यवस्था की स्थापना पर बल दिया गया । इस युग में यह बहुत स्पष्ट दिखाई देता है कि जिस रचनाकार ने सृजन के स्तर पर रचना को अपनी अनुभूति और संवेदना का हिस्सा बनाया, उसने अपनी सफलता के साथ-साथ कविता की समृद्धि भी की । पर जिसने रचना को नारों के समानांतर खड़ा किया उसने उसी मात्रा में कविता के स्वरूप को क्षति भी पहुंचाई ।

1943 में तार सप्तक के प्रकाशन के बाद हिन्दी कविता में प्रयोगवाद का प्रारम्भ हुआ । इस दौर ने कविता को छायावाद और प्रगतिवाद की प्रवृत्तियों से मुक्त कर कविता में प्रायोगिक परंपरा की शुरूआत की । बिंबों, प्रतीकों

तथा मूल्यों के नये बोध के स्तर पर इस युग ने हिन्दी कविता को बहुआयामी व्यक्तित्व दिया । पर इस युग का भी कुछ ही वर्षों बाद नयी कविता में रूपान्तरण हो गया । इस युग की खास विशेषता यह थी कि इसने "लघु मानव" को कविता में प्रतिष्ठित किया तथा निरंतर बदल रही जीवन स्थितियों को उसके यथार्थ-स्वरूप में चित्रित किया । इसके बाद तो कविता में आंदोलनों की धूम मच गई । भूखी पीढ़ी, अराजक पीढ़ी, विचार कविता, अकविता जैसे अनेक आंदोलनों ने कविता को कई स्तरों पर प्रभावित किया ।

हिन्दी कविता का सातवाँ दशक इसी उथल-पुथल का दशक है । लेकिन कुल मिलाकर आज तक स्थिति यही है कि नई कविता की प्रवृत्तियों की बुनियादी स्थितियों पर ही कविता-रचना का क्रम जारी है, जिसमें प्रगतिवाद, प्रयोग-वाद की भीअंतर्छवियाँ देखी जा सकती हैं । निरंतर बदलाव और दिन-ब-दिन परिवर्तित समाज व्यवस्था और मानवी संरचना के मद्देनज़र समकालीन कविता का रुख लगातार नई-नई स्थितियाँ ग्रहण कर रहा है । उसे स्थायी मूल्यगत सरोकारों की चिन्ता के साथ-साथ तत्कालीन राजनीतिक दबावों ने भी काफी प्रभावित किया है ।

"माध्यम" पत्रिका का प्रकाशन 1964 के उसी समय में प्रारंभ होता है जब कविता लगातार हो रहे आंदोलनों से प्रभावित हो रही थी । "विवेचना" की गोष्ठियों में इस उथल-पुथल भरे समय को लक्षित किया जा सकता है । पर यह दिलचस्प है कि इस गोष्ठी के तहत तमाम प्रवृत्तियों और युगों की कृतियों पर चर्चाहुई और सबके आशय को रेखांकित किया गया । इस स्तर पर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि "विवेचना"की गोष्ठियों में समकालीन काव्य-कृतियों पर चर्चा होती रही । इन गोष्ठियों में "समकालीनता" का आशय उस समय से है जिसमें हर युग की काव्यप्रकृति की अनुगूंज सुनाई पड़ती रहा । इसका उदाहरण यही है कि "विवेचना" ने जहाँ "नवीन", पंत आदि पर चर्चा की वही राजकमल चौधरी तथा अशोक वाजपेयी जैसे बिल्कुल नए कवियों पर भी चर्चा हुई । इस अध्याय में हम यही देखने का प्रयत्न करेंगे कि

तमाम काव्यकृतियों पर पढ़े गये आलेखों और उस पर हुई चर्चाओं से किन अहम बिन्दुओं की ओर दृष्टिपात किया गया और उनसे किस नई बात का उद्घाटन होता है ।

§"माध्यम", विवेचना जुलाई-1965§ "शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट**" नामक निबंध में विजयदेव नारायण साही ने शमशेर के बहाने नई कविता के कुछ नए सूत्रों की ओर इशारा किया । अपने निबंध का आरम्भ उन्होंने पश्चिमी कवि मलार्मे की इस उक्ति से किया-कि" अपाहिजत्व की देवी ओ आधुनिक कल्पने । मैं तुझे अपने जीवन की ये थोड़ी सी पंक्तियाँ समर्पित करता हूँ, जो कृपा के उन क्षणों में लिखी गई हैं । जब तूने मेरे भीतर सृष्टि के प्रति नफरत और नितांत न कुछ के प्रति बंजर प्रेम का स्फुरण नहीं किया ।[1]

इस वक्तव्य के बाद साही ने इस आशंका को बहुत विश्वास के साथ उठाया है कि हर कवि को किसी न किसी रूप में इस विडम्बना से दो चार होना पड़ता है ।[2] उनकी दृष्टि में काव्यानुभूति अपने आप में एक तरह का अति-क्रमण है ।[3] इसका जवाब वे यह कहकर देते हैं कि हमारे चारों ओर रोजमर्रा का एक जीवन है इसी का अतिक्रमण करने की कोशिश कविता करती है ।[4] कविता सिर्फ़ जन्म ही नहीं लेती वह कवि से अलग होकर एक सार्वजनिक अस्तित्व ग्रहण करती है ।[5] कइ कथन के बाद शमशेर की कविता पर आकर साही ने कहा- "शमशेर की कविता में प्रतिगीत है । उसी शून्य, उसी न कुछ में वापस चले जाने की । गति और प्रतिगति, अभिव्यक्ति और संकोच के इस तनाव में एक तरह की स्थिरता, संतुलन पैदा होता है । यह स्थिरता, यह अटकाव, यह स्थिति अनस्तित्व और अस्तित्व के बीच एक अंतराल है- विशुद्ध संभावना का क्षण है । यह वह मनोभूमि है जहाँ कविता अपने अर्थ में आलोकित होती है ।"[6]

** "शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट" पर साही की समीक्षा "माध्यम" के तीसरे अंक में प्रकाशित हुई थी । विवेचना स्तंभ के अंतर्गत छपी इस समीक्षा पर चर्चा भी हुई थी । पर "माध्यम" का वह अंक हमें उपलब्ध न हो सका इसलिए साही की पुस्तक "छठवाँ दशक" से यह आलेख उद्धृत है ।

शमशेर की कविताएं अपनी अनुभूति में अस्तित्व-अनस्तित्व के बीच के अंतरालों में संभावना का क्षण देती हैं । पर शमशेर के यहाँ जो यूटोपिया का संसार है उसका आशय क्या है ? इसके उत्तर में साही का कहना है- "यूटोपिया की तलाश हाशिये की लिखावट की तलाश है । अर्थात् जैसे-जैसे कवि यूटोपिया की ओर बढ़ता है, वह अपनी मृत्यु की ओर बढ़ता है । क्योंकि यूटोपिया की अंतिम परिणति मार्क्सवाद है । और मार्क्सवाद वह हिस्सा है जो काव्यानुभूति के बाहर पड़ता है ।"[7] साही फिर तर्क देते हैं कि शमशेर की कविता के हाशिए पर सिर्फ़ मार्क्सवाद का नाम नहीं लिखा है । दूसरी तरफ एक और हाशिया है जिस पर एक और इबारत है जो एक दूसरे अर्थ में वर्जित है । उस इबारत का नाम शमशेर देते हैं- अति यथार्थवाद । उनके लिए अति यथार्थवाद शुद्ध आत्मपरकता है जिस तरह मार्क्सवाद शुद्ध वस्तुपरकता है ।"[8] मार्क्सवाद की तरह अतियथार्थ भी एक यूटोपिया की सृष्टि करता है । वह यूटोपिया एक तरह की निषेधात्मक यूटोपिया है ।"[9]

आगे निषेध को खोलते हुए साही कहते हैं- "यथार्थ की तह में निषेध है जो बिंबलोक को जन्म देता है । यह निषेध मलार्मे की तरह सिर्फ़ रिक्तता की सृष्टि न करे, इसलिए इसको ज्यों का त्यों आत्मसात् करना संभव नहीं है । ------ शमशेर का बिंबलोक कब तक इस निषेधात्मक यूटोपिया से घिरा रहेगा ।"[10]

DISS
A(P)152)19 N64
152N3

शमशेर बहादुर सिंह की कविता की अनुभूति की बनावट के बहाने विजय देव नारायण साही ने अत्यंत संक्षेप में उनकी संपूर्ण काव्य-सर्जना की समीक्षा करने की कोशिश की है । समीक्षा में प्रस्थान और समापन के केन्द्र में कवि मलार्मे रहे हैं । लेकिन साही ने सिर्फ़ दो स्तरों पर अपनी समीक्षा को साधा है- अनुभूति और संरचना । अनुभूति के स्तर पर उन्होंने शमशेर की कविताओं की बनावट में बिंबलोक की सृष्टि को देखा है तथा संरचना के स्तर पर उनकी कविताओं में अस्तित्व-अनस्तित्व के संघर्ष को परखा है । यह विचार जितना समीक्षक का निजी है उतना कविता- आलोचना का नहीं । साही ने इसी निबंध में यह लिखा है- "शमशेर की कविता या समूची नई कविता को देखने

TH-4622

के लिए नयी कविता के प्रतिमान की जरूरत नहीं है, बल्कि कविता के नये प्रतिमान की जरूरत है-

"जो कि सिकुड़ा हुआ बैठा था, वह पत्थर
सजग - सा होकर पसरने लगा
आप से आप ।"[11]

इस निबंध में विजयदेव नारायण साही ने शमशेर के प्रसंग में पश्चिमी कवि मलार्मे को उद्धृत कर यह बताने की चेष्टा की है कि कविता कल्पना की उस कृपा का परिणाम है जिसमें सृष्टि के प्रति नफरत और किसी के भी प्रति बंजर प्रेम की स्थिति नहीं बनती । लेकिन यह जीवन की एक बड़ी विडम्बना भी है, जिससे प्राय: हर रचनाकार को जूझना पड़ता है । शमशेर की कविताएं इस विडम्बना से बरी नहीं हैं तो इसका मुख्य कारण यही है कि कवि रोजमर्रा के जीवन का अतिक्रमण करता है तथा उसके विचार सार्वजनिक हो जाते हैं । आगे जहाँ वे शमशेर की कविता में अस्तित्व-अनस्तित्व के बीच के अंतरालों में संभावना के क्षणों की प्रशंसा करते हैं वहीं उनके उस कवि दृष्टि की आलोचना भी करते हैं जहाँ उन्हें यूटोपिया का संसार दिखाई देता है ।

यहाँ उनके इस आरोप पर पर्याप्त मतभेद की संभावना है । ऐसा कौन सा रचनाकार है (अगर वह सचमुच है) जिसकी दृष्टि में किसी सुखद भविष्य की संभावना नहीं मिलती । कुछ लोग यथास्थितिवाद को गौरवान्वित करके ही कवि कर्म की इतिश्री समझ लेते हैं तो कुछ उसमें संशोधन के सूत्र देते हैं । पर कुछ ऐसे भी कवि होते हैं जो एक समानांतर व्यवस्था की बात करते हैं, शमशेर इसी के प्रति प्रतिबद्ध कवि हैं इसलिए उनके काव्य संसार को यूटोपिया का संसार कहकर खारिज नहीं किया जा सकता । अब वह यूटोपिया चाहे मार्क्सवाद का हो या अतियथार्थवाद का । फिर यहाँ यह आपत्ति भी सटीक नहीं लगती कि शमशेर के लिए अति यथार्थवाद शुद्ध आत्मपरकता है और मार्क्सवाद शुद्ध वस्तुपरकता । इसके जवाब में सिर्फ दो बातें कही जा सकती हैं ।

एक तो ये कि अति यथार्थवाद शमशेर के लिए वह आत्मपरकता नहीं है जिसे साही रेखांकित करते हैं । दरअसल शमशेर की आत्मपरकता जीवन और परिवेश की गहन और जटिल संवेदनाओं से आती है इसलिए उसमें यथार्थ की नग्न और तीखी दृश्यावलियाँ दिखाई देती हैं । अगर इस स्थिति को समझे बगैर उनकी कविताओं को निषेध के खाने में डाल दिया जाये तो खतरे पैदा होंगे । दूसरी बात ये कि मार्क्सवाद शमशेर की रचनाधर्मिता का मूल्य है, वह मूल्य जिसे पोएटिक वैल्यू या काव्य-मूल्य कहा जाता है । उसमें शमशेर व्यापक सामाजिक बदलाव और समता भाव देखते हैं । यह यूटोपिया इसलिए भी नहीं है कि वह व्यवस्था दुनिया ने अपनी आंखों देखी हैं । वस्तुपरकता का आरोप भी जब कविता की अंतर निर्मिति पर जाँचा जाता है तो ये स्पष्ट होता है कि शमशेर के यहाँ कविता और जीवन के बीचनिरंतर एक संघर्ष चलता है जिसे कवि संकेतों और ध्वनियों के कंपन से दिखाता है ।

साही का शमशेर पर यह भी आरोप है कि शमशेर के यहाँ जो अति यथार्थवाद का यूटोपिया है वह निषेधात्मक यूटोपिया है । आगे उन्होंने यही दुहराया है कि इसी निषेध के कारण शमशेर से बिंबलोक का जन्म होता है । शमशेर की कविताओं की बिंबावलियाँ निषेध का परिणाम नहीं हैं- कविता और जीवन के बीच के तनाव का परिणाम हैं । यही तनाव शमशेर के यहाँ संकेतों की सृष्टि करता है और कभी-कभी कविता कवि से बीच में ही छूट जाती है । लेकिन इतना अवश्य है कि कुछ स्थलों पर शमशेर को समझना आसान नहीं रह जाता और वे नितांत दुरूह प्रतीत होने लगते हैं । इसका कारण यही है कि कवि अपने निहितार्थ को तब स्पष्ट करने में असमर्थ पाता है और ऐसे बिंबलोक की सृष्टि हो जाती है ।

साही की यह धारणा आलोचना की धारणा कम है उनकी निजी ज्यादा । फिर भी हम देखते हैं कि साही ने कई स्तरों पर शमशेर की काव्यगत संरचना और अनुभूति के पैमाने पर कविताओं को परखने की कोशिश की है । यह कोशिश इस स्तर पर अधिक महत्वपूर्ण है कि तत्कालीन (और आज भी) कविता

के समानांतर ऐसी स्थीतियाँ बनीं कि उनके बीच रचित कविताओं को पुराने आलोचना निकष पर परखना संभव नहीं था ।

शमशेर का काव्य-संसार वस्तुत: नई कविता का काव्य संसार है जिसमें दैनंदिन जीवन की जटिलता, रिसते-पिसते संबंध, क्षरित होती मानवता, भयंकर गरीबी, अशिक्षा और इस जैसे असीमित रोग शामिल हैं । इसलिए शमशेर के यहाँ का "यूटोपिया" यूटोपिया न होकर संभावित जीवन है और निषेध सामाजिक विकृति का त्याग । कवि का बिंबलोक जनता के बीच कवि का सार्वजनिक उद्‌बोधन है जिसमें संकेत, व्यंजना, संदेह और अनेकार्थता की गहरी परतें हैं । इस निबंध में साही ने अनुभूति और संरचना के जिस सूत्र को सामने रख कर शमशेर की कविता की बुनावट पर बात की है, वह इसलिए अधिक महत्व पूर्ण है कि वह समूची नई कविता के मूल में है । पर वे जिस तरह के आरोपों का सहारा लेते हैं उससे कविता की बुनावट की सूक्ष्मता कम प्रकट होती है स्थूलता अधिक । फिर भी पहली बार साही ने इस ज्वलंत मुद्‌दे को सामने रखकर वैचारिक उत्तेजना का माहौल बनाया ।

§"माध्यम", विवेचना जनवरी 1965§ साहित्येतिहास में बालकृष्ण शर्मा "नवीन" को राष्ट्रीय उद्‌बोधन का कवि माना गया है और यह मान्यता इतनी जड़ हो गई है कि इसमें आलोचक संशोधन की आवश्यकता महसूस नहीं करते । इस स्तर पर भारतभूषण अग्रवाल द्वारा पढ़ा गया यह निबंध निश्चित रूप से ज्यादा अहमियत रखता है जिसमें उन्होंने "नवीन" को केवल राष्ट्रीय उद्‌बोधन का कवि न मानते हुए विराट संवेदना का कवि माना है । अग्रवाल का यह निबंध "नवीन" के काव्य संग्रह "हम विषपायी जनम के" पर केन्द्रित है ।

इस निबंध को आगे बढ़ाते हुए अग्रवाल ने इशारा किया है कि "नवीन" के यहाँ संशय और द्वन्द्व केन्द्रबिन्दु हैं और अनुभूति का ईमानदार कथन या चित्रण उनकी सृजन प्रक्रिया है ।"[13]

इस उद्धरण को परखने के बाद लगता है कि "नवीन" के समूचे काव्य में संशय और द्वन्द्व का भाव मौजूद है तथा अभिव्यक्ति के स्तर पर उनके यहाँ पर्याप्त लेखकीय ईमानदारी भी है । मस्ती और फक्कड़पन उनके काव्य में तनाव के कारण आता है । तो प्रश्न यह उठता है कि "नवीन" के इस वैशिष्टय को क्यों लगातार उपेक्षित किया जाता रहा है । इस प्रसंग में मुझे ये लगता है कि स्थूल प्रवृत्तियों का आधार लेकर "नवीन" को राष्ट्रीय चेतना और मस्ती के खाने में बंद कर दिया गया है । आलोच्य काव्य की कविताओं को देखने और अग्रवाल के निष्कर्षों में सूक्ष्म साम्य दिखाई देता है । "नवीन" के यहाँ मिलनेवाली मस्ती को अग्रवाल ने अपनी नज़र से देखा है और लिखा है- "मस्ती का परम प्रमाण है-शराब, नशा और बेहोशी । इस चरम प्रतीक को अपनाना ही एक तरह से मस्ती की काट कर देना है क्योंकि शराब की मस्ती सच्ची मस्ती नहीं होती । वह तो शराब की मस्ती से बच निकलने का प्रयास भर होता है ।"[14] यहाँ "नवीन" की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:-

"कैसे दिखलाऊं कि पड़े हैं मेरे हिय में छाले,
तुम्हें चाहता हूँ कितना, यह कैसे दिखलाऊं बाले ।"

(हम विषपायी जनम के)

इन पंक्तियों में "नवीन" के मन का संशय और दुविधा स्पष्ट है । इसी को परखने के बाद अग्रवाल उन्हें ऐसा कवि मानते हैं जिनके काव्य के दो स्वर हैं- प्रणय और स्वदेश प्रेम । यही कारण है कि "नवीन" ने अपने काव्य पथ को कई स्थलों पर "असिधारा पथ" कहा है ।

इस प्रकार भारतभूषण अग्रवाल ने प्रचलित मान्यता का तीव्र खंडन करके यह सप्रमाण निष्कर्ष दिया कि "नवीन" विराट संवेदना के कवि हैं । विवेचना की गोष्ठी में इस पर व्यापक विचार-विमर्श हुआ । सुमित्रानंदन पंत इस मान्यता से असहमत थे तो जगदीश गुप्त ने "नवीन" को आध्यात्मिक रंग का कवि कहा । रामस्वरूप चतुर्वेदी ने शिवतत्व देखा तो बालकृष्ण राव ने

अग्रवाल की समीक्षा से सहमति जतायी । पर इतना स्पष्ट हो गया कि "नवीन" को केवल रूढ़ तर्कों पर नहीं कसा जा सकता । "विवेचना" में पढ़ा गया यह निबंध निश्चित रूप से इस स्तर पर एक उपलब्धि बना कि उसने "नवीन" को प्रचलित धारणा से बाहर करके व्यापक आधार का कवि मानने की ओर संकेत किया ।

§"माध्यम", विवेचना मार्च 1965§ सियारामशरण गुप्त के काव्य "गोपिका" पर ब्रजेश्वर वर्मा ने अपना निबंध पढ़ा था । अपने निबंध में वर्मा ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि गुप्त के इस काव्य में भाषा और शिल्प की नवीनता है । इस काव्य पर इस स्तर पर विवाद रहा है कि इसमें प्राचीन कथा को चुना गया है । लेकिन प्राचीन कथा को चुनना केवल इसी अर्थ में गलत हो सकता है जब उसमें आधुनिक संदर्भ की संभावना परिलक्षित न हो । तो क्या "गोपिका" में ऐसा है ? पहले ब्रजेश्वर वर्मा की राय देखी जाये । ब्रजेश्वर वर्मा ने इस प्रश्न का उत्तर इन पंक्तियों में दिया है- "गोपिका" का कथानक गोपालकृष्ण की उस ललित कथा से सम्बद्ध है जिसकी विविध रूपता भारतीय संस्कृति और इतिहास के अनुसंधानकर्ता के लिए आज भी एक चुनौती बनी हुई है । किस जाति और समाज के किस वर्ग से आरम्भ होकर लोकवार्ता के माध्यम से पनपते हुए, एक पुराण के बाद दूसरे में उत्तरोत्तर, किन्तु विलक्षण घुमाव और मोड़ों के साथ बढ़ते हुए, कवियों, गायकों, चित्रकारों और मूर्तिकारों की भावना को नाना प्रकार से प्रतिफलित करते हुए, वह कथा इतने अभिनव रूप में अवतरित होती रही, यह निश्चय ही अनुसंधान का एक जटिल और रोचक विषय है । साथ ही, कवि और कलाकार के लिए ऐसी प्रचुर और उर्वर संभावनाएं हैं जिनका कभी अंत नहीं हो सकता । गुप्त की "गोपिका" ने भी इसी कथा में अपने नवीन, किन्तु फिर भी चिर पुरातन, पथ की खोज की है, जिसके विषय में स्वयं कवि के शब्दों में कह सकते हैं--

"श्री
"श्री सुरभि पथ से यह गली-
नव नागरी
किस अमल मधुबन को गयी ?"[15]

इस उद्धरण और गुप्त की पंक्तियों से यह ध्वनित होता है कि "गोपिका" का "श्री सुरभि पथ" वही है जिस पर सूरदास तथा अन्य कृष्ण भक्त कवियों की गोपियाँ चल चुकी हैं, परन्तु सियारामशरण मध्ययुगीन भक्त कवि नहीं हैं । उनकी "गोपिका" में "श्री सुरभि पथ" की खोज पारंपरिक खोज से हट कर है इसलिए उसमें मौलिकता है । पर क्या सचमुच ऐसा है ?

भाषा, शिल्प और भाव के स्तर पर समीक्षक "गोपिका" में पर्याप्त नवीनता और मौलिकता देखता है । किन्तु मुझे ये लगता है कि केवल कथा को प्रवृत्यात्मक मोड़ देने भर से किसी प्राचीन कथा की कृति की उपादेयता नहीं सिद्ध हो जाती । समीक्षक ने अपने निबंध में इस प्रश्न की गहराई में जाने की कोशिश नहीं की है । उसके निबंध का अधिकांश भाग "गोपिका" की कथा और उसके उद्धरणों से भरा पड़ा है । इसीलिए बार-बार ध्यानाकृष्ट करने के बाद भी समीक्षक अपनी इस मान्यता को सार्वजनिक नहीं बना पाता कि "गोपिका" मौलिक और नवीन काव्य रचना है ।

"विवेचना" की गोष्ठी में भी इसी पर बाद-विवाद ज़ारी रहा कि "गोपिका" की सफलता को किस रूप में स्वीकार किया जाये । हरदेव बाहरी को इस की आधुनिकता पर संदेह है तो जगदीश गुप्त की दृष्टि में वर्मा का निबंध ही अस्पष्ट है । रामस्वरूप चतुर्वेदी की निगाह में यह कृति ग्रामीण जीवन की ओर आकर्षित करनेवाली रचना है ।

आशय यह कि "गोपिका" मध्ययुगीन कथा की पृष्ठभूमि पर लिखी गई एक भाववादी और सुधारवादी रचना है जिसकी बुनियाद वैष्णव भाव पर आधारित है । उसके मूल्य और आदर्श तद्युगीन समाज के मूल्य तो रहे हैं पर आज उनकी कोई अर्थवत्ता नहीं है । अगर परम्परा का सृजनशील अतिक्रमण गुप्त किये होते तो शायद इस कृति को ज्यादा सफल माना जाता ।

§ "माध्यम", "विवेचना" अप्रैल 1965 § प्रेम और मस्ती के कवि हरिवंशराय "बच्चन" के काव्य का विकास छायावाद और प्रगतिवाद के संक्रांति काल में हुआ । यह विचित्र संयोग है कि "बच्चन" की कविता पर न तो वायवीय छायावाद का प्रभाव रहा और न यथार्थवादी प्रगतिवाद का । इसलिए यह महज संयोग नहीं है कि उन्हें तमाम लोकप्रियता पाने के बावजूद लंबे समय तक तिरस्कार के योग्य माना गया । "अभिनव सोपान" काव्य संग्रह की समीक्षा करते हुए बालकृष्ण राव ने इस पूरे परिदृश्य को ठीक ढंग से देखने परखने की कोशिश की है, पर यह बड़ा अटपटा लगता है कि तमाम दोषों के बावजूद वे "बच्चन" को महान बनाने में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ते । राव ने एक स्थल पर लिखा है- "बच्चन के लिए तो यह सौभाग्य की बात थी ही, उनसे अधिक सौभाग्य की बात यह हिन्दी कविता के लिए थी कि छायावाद की छत्रछाया में प्रकट और प्रवृद्ध होने के बावजूद वे छायावाद के प्रभाव से अपनी नैसर्गिक प्रतिभा और अपने कवि-व्यक्तित्व को प्राय: अप्रभावित रखने में सफल हुए । वास्तव में "बच्चन" छायावाद के अनुवर्ती होकर भी अनुगामी नहीं बनें ।"[16]

लेकिन यहाँ प्रश्न यह उठता है कि छायावाद से अप्रभावित रहकर वे क्या बने । बेशुमार लोकप्रियता अर्जित करनेवाला सस्ता सतही गीतकार कि कुछ और । प्रेम और मस्ती का नितांत अकेला अनुभव देकर 'बच्चन' ने जनता से पर्याप्त प्रशंसा पाई पर बदले में दिया क्या ? और फिर युग के साहित्य चिंतकों से उन्हें मिला क्या ? अब यह हिन्दी का सौभाग्य था कि दुर्भाग्य, समय-अपना निर्णय दे चुका है, लेकिन राव की इस मान्यता से सहमत होना संभव नहीं है ।

यहाँ यह भी जोड़ देना प्रासंगिक लगता है कि सच्ची अनुभूति के अभाव में भी कविता तभी कलात्मक रूप लेती है जब उसमें शिल्प और विचारतत्व की अभिव्यंजना हो, पर बच्चन इन दोनों स्तरों पर कम कामयाब होते हैं ।

§"माध्यम", "विवेचना" जून 1965§ सुमित्रानंदन पंत की काव्यकृति "लोकायतन" इस अवधि में काफी विचारोत्तेजक कृति रही है । इस पर प्रशंसा और आलोचना दोनों तरह के भावों की बहुलता रही है । "विवेचना" में इस पर अपने आलेख में सावित्री सिन्हा ने न तो प्रशस्ति की और न ही आलोचना, वरन् वह तीसरे मुकाम पर टिक गईं जहाँ से कृति का मूल्यांकन तो दूर कृति की समझ में भी मुश्किलें पैदा हो गईं । पहला प्रश्न ही यह बनता है कि क्या "लोकयतन" गांधी युग का मूल्यांकन करता है ? कविवर पंत की दृष्टि सकारात्मक है । लेकिन इसे ज्यों का त्यों स्वीकार लेने में भी खतरे की गुंजायश है । पंत मानते हैं कि ऊर्ध्व और समदिक का सामंजस्य ही "लोकायतन" का प्रतिपाद्य है । यहाँ सावित्री सिन्हा का यह वाजिब है कि अंतश्चेतना और अंतर्जीवन की सामाजिक क्रांति का यह स्वप्न कभी सत्य हो सकेगा, इसका विश्वास अनास्था और विषमताओं के यथार्थ में पलते हुए व्यक्ति को होना जरा कठिन है ।[17]

अरविन्द दर्शन के आधार को लेकर लिखा गया "लोकायतन" अपनी पूरी संरचना में कैसा बन पाया है, इस पर विचार करते हुए समीक्षका का मत है- "यह अपने पहले के हर महाकाव्य से अलग है । न तो उसमें द्विवेदी युगीन महाकाव्यों के समान अतीत का गौरवगान है, न शूद्र और नारी का उद्धार है और न परवर्ती प्रबंध काव्यों की भांति किसी एक सार्वभौम समस्या के विरोधी पहलुओं की टक्कर में संशय और द्वन्द्वग्रस्त चेतना का चित्रण है ।"[18] लेकिन समीक्षका इतना कहने के बाद भी यह स्पष्ट नहीं कर पाई हैं कि तब वास्तव में वह क्या है ? यहाँ केवल उसकी भविष्योन्मुखता पर नज़र फेरकर अपना अभिमत प्रकट कर दिया गया है ।

आशय यह कि पंत के "लोकायतन" की समीक्षा में समीक्षका ने कोई नई बात नहीं कही, कुछ स्थलों पर संकेत अवश्य किया है, पर उससे ठीक-ठीक निष्कर्ष निकालना कठिन है । मसलन- "पंत के दार्शनिक प्रतिपाद्य में स्थूल श्रृंगारिक बिंबो, कुरूप खुले शब्दों और सहज निवारणीय मुखर प्रयोगों का रहस्य समझ

में नहीं आता । बीस-पच्चीस वर्ष पहले का पाठक अपने लिए वर्जित, रूमानी, श्रृंगारिक भावनाओं का आनन्द पंत की रेशमी, वायवी कल्पनाओं और प्रच्छन्न सूक्ष्म-श्रृंगारिक उद्भावनाओं में लिया करता था, पंत की अतीन्द्रिय कल्पनाओं में उसकी ऐन्द्रिक भावनाओं को पंख मिल जाते थे, पर आज, पंत की की दार्शनिक चेतना का निरूपण करते समय कुछ शब्दों को बचा देना पड़ता है । रूपकों के कुछ अंशों को छोड़कर आगे बढ़ने को विवश होना पड़ता है । क्या यह मान लिया जाये कि विचार संयुक्त जटिल आध्यात्मिक अनुभूतियों की संप्रेषणीयता में अविश्वास के कारण दार्शनिक कवि को स्थूल माध्यमों का सहारा लेना पड़ता है ?"[19]

यह लंबा उद्धरण दो स्तरों पर काम आता है, एक तो पंत की अतीन्द्रियता की जगह स्थूल माध्यमों के प्रयोग की जगह और दूसरा सावित्री सिन्हा की कठिन असमंजस की स्थिति पर । पंत अपनी वायवी और अतीन्द्रिय कल्पनाओं के लिए प्रसिद्ध रहे हैं और दूसरे छोर पर बदनाम भी । सावित्री सिन्हा के आलोचक मन को"लोकायतन" में अतीन्द्रियता की कमी खटकती है । यह अजीब विरोधाभास है कि पंत ने अपने काव्य में जहाँ स्वयं को ज्यादा विस्तार दिया है, वही आलोचक को नागवार गुजरे ।

विवेचना की गोष्ठी में निसंदेह सार्थक प्रश्न उठाए गये जिनका जवाब स्वयं कविवर पंत ने ही दिया । विश्वंभर मानव की शिकायत थी कि "लोकायतन" के आरंभ में सरस्वती बंदना के प्रसंग में "नितंबमयी" शब्द का प्रयोग अश्लील है । जगदीश गुप्त ने पंत से यह जानना चाहा कि क्या आज की संवेदना को महाकाव्य में अभिव्यक्त किया जा सकता है ? रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इस काव्य में कवि व्यक्तित्व के विभाजन का प्रश्न उठाया ।

सुमित्रानंदन पंत ने सारे प्रश्नों के जवाब में कहा- "नितंबमयी" शब्द कालिदास और अन्य कवियों के यहाँ आया है । यह अश्लील कहीं से नहीं है । "लोकायतन" चिंतन प्रधान काव्य है जिसमें मैंने युग विघटन को दिखाया है । मेरा स्वप्न वास्तविकता पर आधारित है । मेरा विश्वास है कि इस भूमि पर "नव मानव" का अवतरण होगा जो उन्नत जीवन जियेगा ।"[20]

इस तरह "लोकायतन" की समीक्षा और बाद में की गई टिप्पणियों पर पंत के जवाब ने यह समझने में मदद की कि यह चिंतन प्रधान काव्य है और भविष्य की उन्मुखता इसमें है । पर न प्रश्नों पर पंत मुक्तभाव से कुछ जवाब दे पाये और न समीक्षिका के निष्कर्षों में से कुछ सार्थक निकल पाया । अरविंद और गांधी दर्शन के प्रभाव और तत्कालीन युगीन स्थितियों के दबाव ने पंत की स्वाभाविक काव्य प्रवृत्ति को स्थिर नहीं रहने दिया है । यही कारण है कि "लोकायतन" में ढेर सारे प्रश्नों की गुंजायशे निकलती हैं और कवि कई स्थलों पर उलझाने लगता है । "लोकायतन" की स्थिति तो यह है कि वह न तो वर्तमान की स्थिति को बहुत साफ़ कर पाया है न भविष्य के बारे में । पर पंत ने अपने स्वप्नों को वास्तविकता से जोड़कर इसकी उपादेयता प्रमाणित करने की चेष्टा अवश्य की है ।

§ "माध्यम", "विवेचना" अगस्त 1965§ नरेन्द्र शर्मा की दो काव्य कृतियों: "उत्तर जय" और "प्यासा निर्झर" पर शंभुनाथ सिंह ने निबंध पढ़ा । अपने निबंध में उन्होंने शर्मा को द्वितीय श्रेणी का कवि स्वीकार करते हुए उन्हें पतनोन्मुख कवि कहा । यह बड़ा विचित्र लगता है, जब कोई किसी कृति या कृतिकार पर इस तरह के फ़तवे ज़ारी करता है । होना तो यह चाहिए कि कृतियों पर पर्याप्त चर्चा हो और उसके निष्कर्ष को समीक्षक की राय मान ली जाये । निबंध का प्रस्थान ही समीक्षक की इस उद्घोषणा से होता है - "व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से कवियों की दो श्रेणियाँ होती हैं । पहली श्रेणी उन कवियों की होती है जो अपने मूल-प्रस्थान बिन्दु का त्याग नहीं करते, फिर भी विकासमान होते हैं । उनका विकास उर्ध्वमुखी और चक्राकार होता है । दूसरी श्रेणी उन कवियों की है जो अपने मूल प्रस्थान बिंदु से बराबर आगे बढ़ते हुए उर्ध्वमुखी या निम्नमुखी बनते हैं । उनका विकास क्षितिजीय या समतलीय होता है । नरेन्द्र शर्मा इस द्वितीय श्रेणी के कवि हैं ।"[21]

नरेन्द्र शर्मा पर इतनी कर्कश टिप्पणी करके भी शंभुनाथ सिंह ने ऐसा उदाहरण

नहीं दिया है जिससे उनकी मान्यता प्रमाणित हो सके । आश्चर्य तो यह भी होता है कि निबंध में जहाँ से वे समीक्षा की शुरूआत करते हैं, वहाँ उनकी निजी धारणाएँ ही हावी रही हैं । शंभुनाथ सिंह इस क्रम में एक प्रश्न यह उठाते हैं कि "क्या उत्तम काव्य में वस्तुओं के प्रति आसक्ति आवश्यक या श्लाघ्य है और यदि नहीं है तो नरेन्द्र शर्मा की, ये दार्शनिक विवेचन और तर्क पर आश्रित कविताएँ उत्तम काव्य की कोटि में क्यों नहीं आ सकतीं ?"[22]

अव्वल तो यह कि काव्य का मूल्यांकन इतना यांत्रिक नहीं है कि जो मर्जी लिख दिया जाये । दूसरा ये कि काव्य की उत्तम, मध्यम या निम्न कोटियों में बाँटना एकदम गलत है । कृति स्वयं अपने स्तर को बनाती है, हम कौन होते हैं जो किसी कृति को बड़ा या छोटा कहें । फिर यह भी कि केवल वस्तु के प्रति आसक्ति या दार्शनिक विवेचन और तर्क के प्रति आसक्ति किसी कृति की महत्ता या श्रेष्ठता का निर्धारण नहीं कर सकते । अपनी पूरी संरचना में कृति क्या बन पाई है, क्या कह पाई है, जो कह पाई है वह कितना नवीन है या अपने परिवेश के प्रति कितनी सार्थक चिंता है उसमें, वस्तुत: इन्हीं तत्वों या मान्यताओं के आधार पर कृति की श्रेष्ठता-निम्नता सिद्ध होती है । अब यह अलग सवाल है कि "उत्तर जय" प्रतीकों के माध्यम से महाभारत की कथा के अंतिम प्रसंग के आधार को लेकर भी तत्कालीन भारत की तस्वीर अंकित करने में सफल नहीं हो सका है और "प्यासा निर्झर" स्फुट कविताओं का संकलन होकर भी शिल्प के स्तर भले कुछ कमजोर हों, पर भाव की उच्चता में बेहतर बन पड़ा है ।

§"माध्यम", सितम्बर 1965§ कुंवर नारायण हिन्दी के ऐसे कवि रहे हैं जिन की काव्य संवेदना मिथकों से परिचालित होने के बावजूद अपनी सामाजिक प्रतिबद्धताओं से संपृक्त रही है । विवेच्य कृति "आत्मजयी" पर अपनी समीक्षा में श्रीकान्त वर्मा ने अपने ढंग से कई प्रश्न उठाये । ज्ञातव्य है कि कुंवर नारायण का काव्य "आत्मजयी" औपनिषदिक् पात्र नचिकेता को आधार बनाकर लिखा गया है । इस माध्यम से कवि ने नितांत जटिल से जटिलतर होते समय में मनुष्य के अकेले होते जाने की समस्या को दिखाया

है । लेकिन श्रीकांत वर्मा ने इस प्रश्न को सामने रखकर "आत्मजयी" को देखने की कोशिश नहीं दिखाई । उनकी समूची दृष्टि भाषा की किताबी प्रवृत्ति, नीत्शे की चिंता और बौद्धिकता के अभाव पर केन्द्रित रही । नचिकेता को शाप मिला मृत्यु का और कवि ने अपनी कृति में उसे जीवन के शाप में रूपान्तरित करके दिखाया । इस स्तर पर कुंवर नारायण का यह काव्य सांदर्भिक है और समकालीन संदर्भ में प्रासंगिक भी । कुछ निष्पतियों पर असहमतियाँ उठ सकती हैं पर पूरी कृति को उसकी समग्रता में देखें बिना किसी भी कृति के साथ न्याय नहीं किया जा सकता ।

श्रीकांत के कुछ उद्धरण यहाँ प्रासंगिक हैं । कुंवर नारायण द्वारा नचिकेता की मृत्यु के शाप को जीवन के शाप में रूपांतरण को जीवन मूल्यों की तलाश माना है पर उस पर कटाक्ष करते हुए लिखा है- "जीवन मूल्यों की तलाश मृत्यु से अधिक कष्टकर है और इसलिए जीवन मूल्यों की खोज करने वाली कविता की खोज भी अधिक कष्टकर है । लेकिन जैसा कि है- कुंवर नारायण सहज कवि नहीं हैं और नचिकेता की तरह ही उन्होंने भी अपने को वास्तविक अस्तित्व की तलाश में निकली हुई एक ऐसी यात्रा में डाल दिया है जिसमें कुछ हासिल होगा या नहीं, कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती ।"[23]

यहाँ श्रीकांत पर यह आक्षेप लगाया जा सकता है कि सहजता में ही जीवन मूल्यों की खोज वाली कविता ही क्यों संभव है ? यह बिल्कुल निराधार आरोप है । असहज कविता भी संप्रेषणीय हो सकती है और कवि की संवेदना की तीव्र और साफ अभिव्यक्ति संभव है ।

अब एक और आक्षेप अस्तित्ववाद को लेकर । श्रीकांत वर्मा ने कवि की निम्न पंक्तियों पर आपत्ति दर्ज की है:-

"मैं जिन परिस्थितियों में ज़िंदा हूँ,
उन्हें समझना चाहता हूँ-वे उतनी ही नहीं

जितनी संसार और स्वर्ग की कल्पना
से बनती है ।"

इस पर श्रीकांत ने लिखा है- "अस्तित्व के प्रति शंका पहली नहीं है । एक स्तर पर यह शंका बार बार हिन्दू दर्शन में उठती रही है और एक दूसरे स्तर पर नीत्शे से शुरू होकर हीडेग्गर और यास्पर्स तक पहुंचने वाली चिंतन धारा में कुंवर नारायण ने जिस तरह इन सवालों को उठाया है, उनकी संगति हिन्दू दर्शन में नहीं बैठती । और इसीलिए हिन्दू प्रतिभा की उपज नचिकेता के कुंवर नारायण द्वारा निरूपित चरित्र में शुरू से ही विसंगति है ।"[24]

हिन्दू दर्शन की मान्यता में तो अस्तित्व का कोई आलोड़न ही नहीं है । वहाँ तो पुनर्जन्म के विधान और सब कुछ नियति निर्धारित होने के कारण इस तरह के प्रश्नों का भी अलग निरूपण है । पर कुंवर नारायण के प्रश्न अगर नीत्शे आदि पश्चिमी अस्तित्ववादियों और भारतीय चिंतकों के बीच के सूत्रों के सहारे उठते हैं तो इसमें बुराई क्या है ? कुंवर की कुछ पंक्तियाँ हैं:-

"क्योंकि व्यक्ति मरता है
और अपनी मृत्यु में वह बिल्कुल अकेला है,
विवश
असांत्वनीय ।"

क्या इसे अस्तित्ववाद से जोड़कर भी नकारा जा सकता है ? मेरा विचार है कि अपनी संवेदनात्मक तीव्रता में कवि ने यहाँ मृत्यु की भयावहता के साथ जीवन और मृत्यु के तनाव, अकेलेपन और उन तमाम प्रश्नों की ओर संकेत कर दिया है जिनका संबंध मानव के अस्तित्व से अनुस्यूत है ।

इस प्रकार अत्यंत संक्षेप में यहाँ श्रीकांत वर्मा के मूल मंतव्यों से गुजरने पर यह स्पष्ट हुआ कि कुंवर नारायण के "आत्मजयी" पर समीक्षक ने दो दृष्टियों

से विचार किया है । एक यह कि उसकी संरचना में समीक्षक को असहजता दिखाई दी है और कवि की मूल संवेदना "जीवन मूल्यों की तलाश" को वह बहुत कारगर नहीं मानता तथा दूसरा ये कि उस पर भारतीय दर्शन से विमुखता दिखाकर उसने पश्चिमी अस्तित्ववादियों से प्रभावित माना है । विवेचना की गोष्ठी में भी इन्हीं प्रश्नों पर विचार-विमर्श हुआ, अलग से कोई नई बात सामने नहीं आई ।

(*"माध्यम", विवेचना, जून 1966*) "उर्वशी" रामधारी सिंह "दिनकर" की ऐसी कृति है जो हिन्दी कविता में पर्याप्त चर्चा के केन्द्र में रही है । द्विवेदी युग में जिस स्थूल और पवित्रतावादी धारा का प्रभाव रहा, दिनकर ने उससे बचने और उसे सफाई से अलगाने की पूरी तथा सफल कोशिश की । ज्ञातव्य है कि "उर्वशी" में पुरूरवा और उर्वशी के मिथकीय प्रेम-प्रसंग को आधुनिक संदर्भों में देखा गया है तथा जीवन और व्यवहार के नए स्तरों को उद्‌घाटित किया गया है । इस काव्य का अहम पक्ष है- नर-नारी के द्वन्द्व का चित्रण और इस द्वन्द्व का केन्द्र बिन्दु है- नर-नारी का सम्बन्ध । "विवेचना" में प्रयाग नारायण त्रिपाठी ने अपनी समीक्षा में समग्रतावादी दृष्टि दी है और "उर्वशी" को गहराई से देखने की कोशिश की है । नर-नारी के सनातन द्वन्द्व को गहराई देने के लिए "दिनकर" ने कहा था- "नारी के भीतर एक और नारी है जो अगोचर और इन्द्रियातीत है । इस नारी का संधान पुरूष तब पाता है जब शरीर की धारा उछालते-उछालते उसे मन के समुद्र में फेंक देती है, जब दैहिक चेतना से परे वह प्रेम की दुर्गम समाधि में पहुंचकर निस्पंद हो जाता है । पुरूष के भीतर एक और पुरूष है जो शरीर के धरातल पर नहीं रहता और जिससे मिलने की आकुलता में नारी अंग संज्ञा के पार पहुंचना चाहती है ।"

"उर्वशी" में इसी अंतर्द्वन्द्व की वास्तविकता प्रकट हुई है । पुरूष और पुरूष तथा नारी और नारी के अंतर्सम्बन्धों, कल्पनाओं, चिंताओं तथा कोमल अनुभूतियों को "दिनकर" ने अत्यंत सूक्ष्मता से महसूस किया है और अभिव्यक्त

किया है । "दिनकर" की उपर्युक्त धारा और "उर्वशी" के कथ्य को सामने रखकर समीक्षक ने लिखा है- "इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श- यही "दिनकर" के शब्दों में प्रेम की आध्यात्मिक महिमा और यही कविता की भूमिका का वह दर्द है जिसे अभिव्यक्त करके "दिनकर" ने दिखाया है ।"[25]

निसंदेह "दिनकर" की काव्यदृष्टि की यह बड़ी सफलता है कि उन्होंने लौकिक धरातल पर नर-नारी के काम-संबंधों और द्वंद्व-संघर्षों का अध्ययन किया है । "उर्वशी"के पहले अंक में कवि ने इस प्रकार के संबंधों के लिये भूमि तैयार किया है:-

"गगन, भूमि दोनों अभाव से पूरित हैं, दोनों के ।
अलग-अलग है प्रश्न और हैं अलग-अलग पीड़ाएँ ।।"

तमाम प्रश्नों के बीच से इस प्रसंग में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि पुरूष और नारी के प्रेम की दुर्गम समाधि की अवस्था तक पहुंचने के संघर्ष और पहुंच पाने के बाद के द्वन्द्व को क्या परंपरागत संबंधों के माध्यम से नहीं दिखाया जा सकता था ? इस प्रश्न का समाधान समीक्षक ने यह कहकर दिया है कि "यह दुष्कर कार्य परंपरागत प्रेम संबंधों के माध्यम से नहीं हो सकता था । परंपरागत यानी दाम्पत्य-संबंध, सेवा और समर्पण की भावना के बावजूद, वह मुक्ति और वह अटूट स्वच्छंदता नहीं प्रदान करता, जिसकी भूमि पर दो सघन और तीव्र व्यक्तित्व पनपें और नयी अथवत्ता ग्रहण करें । इसीलिए "दिनकर" ने परकीया की उस परंपरा को पकड़ा, जो अब से पहले सबसे समृद्ध रूप में "श्रीमद् भागवत" में व्यक्त हुई थी । वस्तुत: भारतीय साहित्य में परकीया का महत्व सिद्धान्त रूप में केवल भक्ति काव्य के आध्यात्मिक वातावरण और परिवेश में ही स्वीकृत हुआ, लौकिक प्रेम प्रसंगों में नहीं ।"[26]

आशय यह निकलता है कि गीति नाट्य के रूप में रचित "उर्वशी" अपनी भावभूमि के स्तर पर नर-नारी के द्वन्द्वों का अद्भुत और प्रभावकारी काव्य है । इसमें परकीया के सूत्र के माध्यम से "दिनकर" ने नर-नारी के अंत:

संघर्षों से लेकर उसके तमाम अंत:सूत्री प्रवृत्तियों का निरूपण किया है । इस स्तर पर कहना चाहें तो कह सकते हैं कि यह "वेदना का काव्य" है, जिसे स्वयं दिनकर ने कहा है । "विवेचना" की गोष्ठी में "उर्वशी" के परंपरागत विवादों पर ही केन्द्रित रही ।

("माध्यम", विवेचना, सितम्बर 1966) गजानन माधव "मुक्तिबोध" आधुनिक हिन्दी कविता के ऐसे कवि हैं जिनकी कविताओं में स्वातंत्र्योत्तर भारत की समस्त विडम्बनाएँ अपनी पूरी चारित्रिक परिणतियों के साथ मौजूद हैं । "चांद का मुंह टेढ़ा है" शीर्षक काव्य संग्रह इन्हीं स्थितियों का ऐसा अकेला संग्रह है जिसमें देशकाल की सारी जड़ताएँ कवि की तीव्र संवेदनात्मक अनुभूति से साक्षात् हो उठीं हैं । विवेचना की गोष्ठी में हरि नारायण व्यास ने "लोकहितवादी चेतना के कवि: मुक्तिबोध" शीर्षक अपने निबंध में इस संग्रह को परखने का प्रयास किया । उन्होंने लिखा है-"मुक्तिबोध की कविताओं का एक स्वतंत्र व्यक्तित्व है । विस्तार और भाषा की संगठित व्यंजना शैली और कथ्य के निरालेपन से वह एक कथ्य के नवीन अर्थवाही कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं । उनकी कविताएँ छायावाद, रहस्यवाद और प्रगतिवाद के सांचों से सर्वथा भिन्न अपना मौलिक व्यक्तित्व रखती हैं ।"[27]

इस बात में कोई दो राय नहीं हो सकती कि मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं को अलग और सबसे भिन्न छवि दी तथा फैंटेसी और प्रतीकों को भी माध्यम बनाकर उन्हें मौलिक अर्थ प्रदान किया । यह महज संयोग नहीं है कि मुक्तिबोध की कविताएँ संबोधित करती हैं और पाठक से संवादों की निरंतरता में आगे बढ़ती हैं । इस संबोधन का खास कारण यही है कि कवि कहीं से भी रचना को जीवन से इतर नहीं मानता । उसका जीवन-संघर्ष, द्वंद्व, विवशता और समग्रता में समूची जीवन स्थितियाँ कविता के लिये कारण होते हैं ।

मुक्तिबोध की कविताओं के बारे में प्राय: ऐसा कहा जाता है कि उनकी कविताओं में गति तो है स्थिरता नहीं है । यहाँ समीक्षक का भी कथन

है- "मुक्तिबोध की कविताओं में गति है, स्थिरता नहीं है । उनकी कविताएँ चलती हैं अथवा कहिए कि ले चलती हैं । हर थोड़े विराम के बाद नई परिस्थितियों के सामने पाठक होता है और वह उन परिस्थितियों की असाधारण स्थितियों से अभिभूत हो उठता है ।"[28]

कथन की अतिरंजना न मानकर अगर यह कहें कि समीक्षक ने थोड़ी जल्दीबाजी में इसे कह दिया है तो गलत न होगा । जीवन की और व्यवस्था की कशमकश में कवि को जहाँ कहीं भी अवकाश मिलता है, वह उस अवकाश को गहरी सोच में तब्दील करता है । यह बहुत स्पष्ट कहा जाता है कि मुक्तिबोध की कविताएँ गहरे मथती हैं और पर्याप्त सोचने को विवश करती हैं । कविता में स्थिरता का आशय भी यही होता है कि वह इतना अवकाश दे कि पाठक सोचने-विचारने को प्रेरित हो । कविता में गति, स्थितियों की वजह से आती है पर जहाँ कहीं भी स्थितियों के सरोकार व्यक्ति के सरोकारों से तालमेल बिठाते हैं, वह सोचने को विवश होता है । इस स्तर पर समीक्षक का आरोप उचित प्रतीत नहीं होता ।

मुक्तिबोध की कविता कभी खत्म नहीं होती । वह भागती है, लगातार । हर तरह की स्थितियाँ उसमें जुड़ती चलती हैं और हर स्थिति रुक-रुककर अपना बयान करती चलती हैं । यह मुक्तिबोध की कविताओं का एक विशिष्ट पक्ष है जो हिन्दी की आधुनिक कविता यात्रा में सिर्फ यहीं उपलब्ध है । संयोग से समीक्षक ने इस ओर इशारा भी किया है, पर बात इससे आगे नहीं बढ़ी है । लेकिन यह बड़ा दिलचस्प है कि मुक्तिबोध की कविताएँ अपनी अपूर्णता में भी इतनी पूर्णता ली हुई हैं कि कुछ शेष नहीं बचता । वैसे भी कोई रचना पूर्ण होती कहाँ है । जीवन, व्यक्ति या जगत ही क्या अपूर्ण नहीं है ?

"विवेचना" की गोष्ठी में मुक्तिबोध के "चाँद का मुँह टेढ़ा है" पर विचारोत्तेजक सरगर्मी रही किन्तु अधिकांश वक्ताओं ने पुराने कथनों को ही दुहराया

और मुक्तिबोध में किसी नवीनता को रेखांकित नहीं किया । कुछ वक्ताओं ने तो नवीनता को रेखांकित करने की कोशिश में उन्हें आधुनिक मानसिकता के विरुद्ध घोषित कर डाला । इस क्रम में समीक्षक हरि नारायण व्यास सहित रघुवंश और श्रीराम वर्मा के नाम उल्लेख हैं ।

सारांश यह कि "चाँद का मुँह टेढ़ा है" के माध्यम से मुक्तिबोध का हिन्दी कविता में स्वतंत्र व्यक्तित्व सामने आता है । कथ्य के निरालेपन तथा भाषा की संगठित व्यंजना शैली के कारण हम मुक्तिबोध को एक विराट् कवि के रूप में देखते हैं जहाँ अनुभूति की तीव्रता और यथार्थ का विस्तार दिखाई देता है ।

सचमुच मुक्तिबोध अपने संपूर्ण व्यक्तित्व में ईमानदार कवि हैं । कहीं भी किसी तरह का भटकाव उन्हें इष्ट नहीं है । लोकहितवादी चेतना उनकी कविता के मूल में है । उनकी कविता की रचना-प्रक्रिया पर विचार करते हुए निबंधकार ने लिखा- "मुक्तिबोध की अभिव्यक्ति शैली, सुनियोजित, सुव्यवस्थित और सुसंबद्ध होती है । वह कदाचित वस्तुवाद और विज्ञान के आधार पर एक साहित्य-दर्शन का निर्माण करना चाहते थे । इसलिए उनकी कविताओं में एक व्यवस्था है । फैंटेसी "मानवीकरण" और प्रतीक उन्हें प्रिय हैं । वे फैंटेसी में प्रतीकों के माध्यम ग्रहण करते हैं । और प्रतीकों को मानवीकरण और प्रतिमाओं से सजाते हैं ।"[29]

§"माध्यम", विवेचना जनवरी 1967§ दूसरे छोर पर अज्ञेय हैं जिन पर यह आरोप लगाया जाता है कि वे अभिजात संस्कारों के कवि हैं । "आँगन के पार द्वार" पर अपने निबंध में लक्ष्मीकांत वर्मा का विचार है- "मैं अज्ञेय को रागात्मक ऐश्वर्य का कवि कहता हूँ- अभिजात गुणों, रागात्मक, भावुकता प्रधान रोमांटिक भावबोध, और इन सबसे बढ़कर, राई के बराबर संवेदना को पहाड़ सा बनाकर प्रस्तुत करने के कारण । इसलिए अज्ञेय व्यंजना के कवि नहीं हैं ।"[30]

इस आरोप के बाद दूसरे स्थल पर वर्मा अज्ञेय का कथन उद्धृत करते हैं- "वे प्रतीक द्वारा सत्य को जानते हैं-सत्य के अथाह सागर में वे प्रतीक रूपी कंकड़ फेंककर उसकी थाह का अनुमान लगाते हैं ।" इस उद्दरण के बाद वे कहते हैं- "यह अनुमान थाह लगाने का है, अर्थात् अंतर्मुखी होकर सागर तल मापने का है, अर्थात् सत्य का विस्तार नहीं, सत्य की गहराई नापने का प्रयास है । स्पष्ट है कि अज्ञेय इसी गहराई और गंभीरता के कवि हैं ।"[31]

इसी प्रकार पूरा निबंध लक्ष्मीकांत वर्मा के आरोपों से भरा पड़ा है । इसमें अज्ञेय को अपने पूर्वग्रहों के स्तर पर जांचने का प्रयास है, तटस्थ होकर नहीं । उल्टे नवरहस्यवाद का जामा पहनाकर लक्ष्मीकांत वर्मा ने अज्ञेय को नितांत जटिल कवि घोषित कर दिया है । गोष्ठी में रघुवंश ने वर्मा की इस रहस्य-वादी आरोप से असहमति प्रकट की । रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भी इसका खंडन करते हुए कहा कि अगर हम उन पर रहस्यवाद का आरोप सही मान लें तो भी उनका रहस्यवाद कबीर से लेकर टैगोर से भिन्न, युगीन संदर्भ में सार्थक और सर्जनात्मक रहस्यवाद है ।"[32]

(माध्यम", विवेचना, मार्च 1967) मुक्तिबोध और अज्ञेय की परस्पर भिन्न भावधारा से अलग रघुवीर सहाय बिल्कुल अलग किस्म के कवि हैं । "सीढ़ियों पर धूप में" की समीक्षा में नागेश्वर लाल ने रघुवीर सहाय ने स्वयं लिखा है- "मैं मौन रहूँ तो पता नहीं किस अनीति की स्वीकृति दे बैठूँ। क्योंकि मौन हो जाता हूँ तो लगता हैकि चारों ओर से उठ रहा है हाहारव और अंदर से उठ रहा है एक विद्रोह का रणघोष और मेरे भद्दे होठों का मौन जैसे दोनों के बीच दीवार बनकर खड़ा हो गया है ।" (सीढ़ियों पर धूप में, पृष्ठ 228) आगे नागेश्वर लाल यह कहते हैं कि मेरे विचार से उनकी सबसे उल्लेख्य कविताएं वे हैं जिनमें निजी अनुभव की अभिव्यक्ति है । निजी अनुभव प्यार के संदर्भ में है । उसमें एक प्रकार का वैषम्य है, वैषम्य का कोई निर्दिष्ट कारण नहीं । एक कविता यो है:-

जब मैं तुम्हारी दया अंगीकार करता हूँ
किस तरह मन इतना अकेला हो जाता है ?

सारे संसार की मेरी वह चेतना
निश्चय ही तुममें लीन हो जाती होगी ।
तुम उसका क्या करती हो मेरी लाड़ली,
अपनी व्यथा के संकोच से मुक्त होकर
जब मैं तुम्हें प्यार करता हूँ ।

यहाँ यह देखना दिलचस्प है कि इस कविता में निसंदेह किसी निजी यंत्रणा का बोध परिलक्षित होता है । किंतु कविता में इसकी शल्य-क्रिया अपेक्षित है । आत्म-दया से आत्म-स्वीकार ज्यादा बड़ा होता है । आत्म स्वीकार, संकोच का नहीं साहस का काम है ।

रघुवीर सहाय जीवन-यथार्थ के सबसे तीखे क्षणों को कविता में चित्रित करते हैं । इस बिंदु पर उनका भुक्त यथार्थ असंख्य लोगों का यथार्थ बन जाता है । लेकिन वृहत् परिवेश को यह संलग्नता उनको अपनी ही संवेदनशीलता से काट देती है ।"[33]

("माध्यम", विवेचना जून-1967) गिरिजा कुमार माथुर पूर्णतया रोमांटिक कवि हैं । अज्ञेय ने लिखा है- गिरिजा कुमार माथुर मूलत: रोमांटिक गीतकार हैं । "शिलापंख चमकीले" की समीक्षा करते हुए बालकृष्ण राव ने इसे स्वीकार करने के बाद कहा-"लेकिन यह भी मानना पड़ेगा कि आभिजात्यावाद की अस्वीकृति उनका सहज गुण है । शायद यह भी हमें मानना पड़े कि उनका मूल स्वर विरोध और विद्रोह का है । हमें यह भी मानना होगा कि "रोमांटिक" प्रवृत्ति की व्यवस्था और योजनाबद्धता से विरोध है, संयम उसकी प्रकृति के प्रतिकूल हैं ।"[34]

इस तरह राव ने माथुर की काव्य कृति के जरिए उनकी पूरी काव्य-प्रक्रिया औरकाव्य वस्तु के उद्‌घाटन की कोशिश करते हुए यह स्पष्ट किया है कि वे सुधारक और परिष्कारक की दृष्टि रखते हैं । उन्होंने आधुनिक रूचियों और

मान्यताओं के अनुरूप नयी काव्यभाषा की निरंतर खोज की है । उनकी कविताओं में गीतात्मकता की मात्रा अधिक है ।

विवेचना में जगदीश गुप्त, दूधनाथ सिंह, नामवर सिंह आदि ने राव की स्थापनाओं से सहमति व्यक्त की, जबकि लक्ष्मीकांत वर्मा ने कई अनसुलझे सवाल रखे ।

"माध्यम", विवेचना जुलाई, 1967। राजकमल चौधरी और अशोक वाजपेयी की कृतियों पर चर्चा में बिल्कुल नए कवियों के रूप में हुई थी । ज्ञातव्य है कि राजकमल चौधरी और अशोक वाजपेयी अलग-अलग स्तरों और दृष्टियों के कवि हैं । राजकमल चौधरी की काव्य कृति "मुक्ति-प्रसंग" पर विचार करते हुए श्रीराम वर्मा ने लिखा- "राजकमल की चेतना एक खास तरह के लोगों के आसपास चक्कर काटती है, जो प्राय: अबुद्धिवादी, आवेशी, आक्रोशी, नशेबाज़, विकृत तथा प्रयोग के पीछे सब कुछ छोड़ देने वाले हैं ।[35] यह अकारण नहीं है कि राजकमल की भाषा पर इस तरह की टिप्पणी की गई । उनकी कविताएं अपनी तमाम सर्जनात्मकता के बावजूद एक विशेष प्रकार के घेरे में बंद रहती है । "राजकमल" की "मुक्ति-प्रसंग" उनकी एकदम निजी अनुभूतियों की काव्य कृति है । काली ज़मीन पर सफ़ेद अक्षर, सफ़ेद अंक, शरीर में घुसती सलाई की तरह सफ़ेद लकीरें, शल्य यन्त्रों से हुई खरोंच की तरह टूटी-फूटी सफ़ेद रेखाएं, सब हमें एक काले अंधकार से उठाकर उस अस्पताल के "ऑपरेशन थिएटर" में ले जाते हैं, जहाँ "राजकमल" हैं अपने अनुभव से, थकान से, पीड़ा से, कराह से, प्रेरणा से बिंधे हुए ।"[36]

"मुक्ति-प्रसंग" अपनी निर्मिति में बेहद कलात्मक कृति है जिसमें तमाम विकृतियां यथार्थ हो जाती हैं । समीक्षक ने यह बल देते हुए कहा है कि सारी विकृति, विरूपता, विसंयोजन के बावजूद "मुक्ति-प्रसंग" नितांत सामयिक प्रश्नों की लंबी श्रृंखला चाहे उसमें पूर्णता न हो- प्रस्तुत करता है ।

अशोक वाजपेयी के काव्य संग्रह "शहर अब भी संभावना है" पर लिखते हुए श्रीराम वर्मा का कथन है- "अशोक वाजपेयी का कवि गहरे रूप में मानवीय भी है और इतना कि वह अहं से संपुष्ट होकर हठी हो गया है । इसीलिए उनमें एकांगिकता और इतना एकांत है, यहाँ तक कि पत्थर बना देने वाली प्रश्न भरी ज़िद भी है । यानी गुण भी अतिदोष बन गई है । पर उनमें करूणा की अजस्त्र कोमल धार भी है । जो उस पत्थर को काटती है, एक हाहामयता की जिसमें नारी का पत्थर दबा मौन अपनी वेदना सहित गल कर बह गया है ।"[37]

"शहर अब भी संभावना है" अशोक वाजपेयी का पहला काव्य संग्रह है । श्रीराम वर्मा ने इस संग्रह के आधार पर अंतर्मुखता और शिशुत्व को अशोक वाजपेयी के कवि का मुख्य घटक माना है । कहना न होगा कि वर्मा की पूरी समीक्षा इसी घटक की विवेचना पर आधारित है । अशोक की भाषा पर विचार करते हुए समीक्षक का कथन है- "प्रकृति और प्रेम के लिए अशोक के पास "सुलगती हुई भाषा" और "पिघलता हुआ संगीत" नहीं है । लेकिन "भिलाई" में शीर्षक कविता पूर्व संभावित उद्देश्य की पूर्ति चाहे न करे, पर उसमें संगीत का इस्पात और भट्ठी की तरह सुलगती-जलती भाषा मिलती है, जिसमें "मैं" तप कर, गलकर, इस्पात और भट्ठी के उल्लेख के बावजूद, नितांत शक्ति संपन्न हो गया है ।"[38]

दोनों ही कृतियों की आलोचना में श्रीराम वर्मा ने कविता की संरचना और भाषा की दृष्टि से काम लिया है । किंतु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इससे वे कवियों के कथ्य तक नहीं पहुंच पाए हैं । लेकिन इतना स्पष्ट है कि विभिन्न कवियों/विद्वानों का उद्धरण देकर वर्मा ने अपनी राय की पुष्टि की है, कविता की समग्रता में डूबने का प्रयास उस बारीकी से नहीं मिलता ।

("माध्यम", विवेचना, जुलाई 1968) नयी कविता के एक बेहद संजीदे कवि के रूप में विजय देव नारायण साही पर्याप्त चर्चित रहे हैं । "तीसरे

सप्तक" के कवि के रूप में साही की प्रतिष्ठा छठवें दशक के आरंभ में ही हो गई थी । "मछली घर" उनका पहला काव्य संग्रह है । इस संग्रह की खूबी यह है कि इसमें संगृहित पचासों कविताएं शिल्प, आकार और भाव के स्तर पर बहुआयामी हैं । इन कविताओं की शैली एकालाप की शैली है जिसको पढ़ते हुए लगता है कि कविता पढ़ी नहीं जा रही है बल्कि सुनी जा रही है । इस कृति पर अपने निबंध में नागेश्वर लाल कहते हैं- "मैं समझता हूँ कि इस रचना-प्रक्रिया को ग्रहण करने में सुविधा-असुविधा का प्रश्न पढ़ने के क्रम में भले उठे, समीक्षा में नहीं उठना चाहिए । समीक्षा के लिए इतना काफी है कि वह जान सके कि इसका वैशिष्ट्य क्या है और वैशिष्ट्य का प्रासंगिक आग्रह कहाँ तक संभव है ।"[39]

इस वक्तव्य के बावजूद "मछली घर" की समीक्षा में नागेश्वर लाल ने कविता की रचना-प्रक्रिया को ही आधार बनाया है । इस स्तर पर अपनी पड़ताल में वे साही की इन कविताओं को "आहत औचित्यबोध की प्रतिक्रिया का दस्तावेज़" कहते हैं । इस पूरे संग्रह में साही ने स्वातंत्र्योत्तर भारत की दुर्दशा को चित्रित किया है जिसमें सुविधावाद के कारण ऐसी स्थिति बनी । नागेश्वर लाल साही की कविताओं की आंतरिक निर्मिति से सूत्र लेते हैं और इससे उनके कथ्य की समानता बिठाते हैं । उनका कथन है- " "मैं" इस स्थिति का आरोप करके अपनी प्रतिक्रिया नहीं प्रकट करता, वह स्वयं स्थिति का भोक्ता है । स्वभावत: व्यष्टि और समष्टि, आत्म और वस्तु तथा कवि और वातावरण के जोड़े पिट जाते हैं और एक ऐसे बोध का आभास होता है जो वैयक्तिक रूप में जितना प्रामाणिक है, उतना ही राष्ट्रीय रूप में भी, जितना आत्मनिष्ठ है उतना ही वस्तुनिष्ठ, जितना कवि का है उतना ही परिवेश का भी । फिर भी जो अपने व्यक्तित्व को दो खंडों में एक करके एकालाप का विधान करता है, वह विशिष्ट है, क्योंकि उसमें धारा को मुक्त करके क्रांति के पुनरुद्धार की मूल्य चेतना है ।"40 इसी प्रकार "मछली घर" को नागेश्वर लाल भारतीय संदर्भों से जुड़े रहने की उत्कंठा की कृति कहते हुए यह भी कहते हैं कि इसमें आधुनिक भारतीय कविता की सार्थक भूमिका के संकेत हैं ।

(1"माध्यम", विवेचना, अक्तूबर 1968) इस अवधि में रघुवीर सहाय का दूसरा संग्रह "आत्महत्या के विरुद्ध" प्रकाशित हुआ जो "सीढ़ियों पर धूप" के बाद आया । ज्ञातव्य है कि पहले संग्रह पर "विवेचना" में विचारोत्तेजक चर्चा हुई थी जिसमें नागेश्वर लाल ने ही मुख्य समीक्षा पढ़ी थी । इस दूसरे संग्रह पर रमेशचन्द्र शाह ने अपना निबंध पढ़ा । इन दोनों समीक्षाओं में दोनों समीक्षकों में पर्याप्त वैषम्य दिखाई देता है । "सीढ़ियों पर धूप" की समीक्षा में जहाँ नागेश्वर लाल को रघुवीर सहाय की "निजी अनुभूति" अच्छी कविता के लिए गुण दिखाई देती है, वहीं रमेशचन्द्र शाह के लिए "आत्मग्रस्तता का अवगुण है । लेकिन दूसरे स्तर पर शाह को रघुवीर सहाय के इस संग्रह की कुछ कविताओं में चेतना के एक केन्द्र के विचलित हो जाने पर, एक दूसरे केन्द्र पर अपनी चेतना को एकाग्र करने की कोशिश, जहाँ कि यथार्थ का दबाव और यथार्थ की चुनौतियाँ सबसे अधिक प्रखर, प्रत्यासन्न और प्रासंगिक प्रतीत होती हैं ।"[41]

रमेशचन्द्र शाह ने रघुवीर सहाय की इस काव्य कृति का मूल्यांकन कवि की रचना-प्रक्रिया के केन्द्र में रखकर किया है । उनकी परख दृष्टि इसीलिए यहाँ सर्वांग पर गयी है और वे रचना को, उसकी निर्मिति को उसके पूरे कथ्य के तहत देख पाये हैं । इस मूल्यांकन-प्रक्रिया में रमेशचन्द्र शाह कवि की अनुभूति और अभिव्यक्ति को देखने और तलाशने की पूरी कोशिश करते हैं । भाषा और शिल्प की विशिष्टताओं को रेखांकित करते हुए शाह ने लिखा- "रघुवीर सहाय की काव्य भाषा इस मानी में अलग पड़ जाती है कि वह बिंब और लय के जाने-पहचाने उपकरणों से स्वतंत्र, उनके अतिरिक्त भी सर्जनात्मकता का एक धरातल पा लेती है ।"[42]

(1"कल्पना", अंक 265) "विवेचना" की बहुत विलंब और व्यवधान से हुई आखिरी गोष्ठी में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की काव्यकृति "गर्म हवाएँ" पर चर्चा हुई । इस कृति पर समीक्षा जगदीश गुप्त ने प्रस्तुत की । ज्ञातव्य है कि सर्वेश्वर छठवें दशक के आरम्भ में हिन्दी के ऐसे प्रतिभाशाली कवि के रूप में उभरे थे जिनकी कविताओं ने "नई कविता" की शक्ति और गहराई, दोनों

का पता दिया था । जगदीश गुप्त ने सर्वेश्वर के कवि के वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए लिखा था कि वे विडंबनापूर्ण सामयिक जीवन की साधारणता के एक ऐसे असाधारण कवि हैं जिनकी असाधारणता साधारणता से न तो कटी हुई कही जा सकती है, न बहुत दूर की चीज़ । दोनों में एक विचित्र प्रकार की एकात्मकता मिलती है और इसे उनकी प्रमुख विशेषता माना जा सकता है । जगदीश गुप्त, जो स्वयं "नयी कविता" के प्रवक्ताओं में रहे हैं, ने सर्वेश्वर के इस संग्रह को "कविता की संरचना" के स्तर पर मूल्यांकित करने का प्रयास किया है । भाषा, बिंब, प्रतीक तथा शब्दों के प्रयोग को आधार बनाकर गुप्त ने कवि के कथ्य को पिछले संग्रहों से मिलाकर तथा संदर्भों में तौलकर देखने की कोशिश की है । इस क्रम में उन्होंने वर्णात्मक संगति, जागृत-सामाजिकता, वैयक्तिक संवेदना की राष्ट्रीय तादात्मकता, प्रतीकात्मक बिंबविधान, शब्द संयोजन की बहुविध कुशलता, व्यंग्य की कबीरी मुद्रा आदि विशेषताओं की ओर ध्यानाकृष्ट किया है ।"[43]

इस प्रकार हम देखते हैं कि "विवेचना" ने अनेक स्तरों पर कविता की आलोचना को नई भावभूमि की दिशा दी । विभिन्न आलेखों के माध्यम से समीक्षकों ने कृति और कृतिकार के नए और अनछुए पहलुओं की ओर संकेत कर उनकी आलोचना में नवीन सूत्र जोड़े । यह सूत्र केवल प्रशंसा या उपलब्धि का ही नहीं था बल्कि उनकी सीमाओं का भी था।

शमशेर की काव्यानुभूति की बुनावट पर बात करते समय विजय देव नारायण साही ने जहाँ शमशेर की इस कमजोरी की ओर संकेत किया है कि तनाव में संकेतों की सृष्टि करते समय उनसे कभी-कभी कविता बीच में ही छूट जाती है । तो दूसरी ओर बालकृष्ण शर्मा "नवीन" पर चर्चा से यह स्पष्ट होता है कि वे न केवल राष्ट्रीय उद्‌बोधन के कवि है बल्कि विराट् संवेदना के कवि भी है । इसी प्रकार सियारामशरण गुप्त की "गोपिका" की विवेचना से यह बात सामने आती है कि उनमें पारंपरिकता से बाहर निकलने की स्थिति नहीं है । "बच्चन" के बारें में यह ज्ञात होता है कि युग और परिवेश कैसे और क्यों उनसे उपेक्षित हुआ । पंत के "लोकायतन" से यह बात निकलकर आती है कि उनमें वर्तमान और भविष्य दोनों के बारे में स्पष्ट राय नहीं उभरती ।

नरेन्द्र शर्मा को समझने के बाद यह लगता है कि उनके साथ सही न्याय नहीं हुआ है । कुंवर नारायण के बारे में यह निष्कर्ष निकलता है कि उनमें जीवन संघर्ष के साथ अस्तित्व के प्रति जबर्दस्त तनाव है । दिनकर की "उर्वशी" में नर-नारी के संबंधों को मिथकीय आवरण में बहुत सफाई से खोला गया है, तो मुक्तिबोध के बारे यह बात खुलकर सामने आती है कि वे कथ्य और शिल्प दोनों स्तरों पर स्वतंत्र व्यक्तित्व बना पाये हैं । अज्ञेय के यहाँ अभिजात संस्कारों के बावजूद गहराई और गंभीरता है जो कवि की संवेदना की तीक्ष्णता से आती है । रघुवीर सहाय इनसे भिन्न ऐसे कवि सिद्ध होते हैं जिनमें यथार्थ की छवि स्पष्ट और युग की विकृतियाँ अपने स्वरूप में प्रकट होती हैं । इसी तरह गिरिजा कुमार माथुर में रोमानियत, राजकमल चौधरी के कथ्य की बेलागता, अशोक वाजपेयी में प्रेम और ज़िद, विजयदेव नारायण साही में क्रांति के पुनरुद्धार की मूल्य चेतना तथा सर्वेश्वर में विडंबनापूर्ण जीवन की जटिलता रेखांकित होती है ।

आशय यह निकलता है कि "विवेचना" के तहत हुई बहसों और उनसे निकले निष्कर्षों ने हिन्दी कविता की तत्कालीन आलोचना को विस्तार दिया । यह महज संयोग नहीं है कि इस चर्चा के बाद तत्कालीन आलोचना में उन तमाम खतरों से सावधानी दिखाई देती है जो "विवेचना" के पहले मौजूद थे । खतरे यही थे कि कृति को उसकी समग्रता में न आँक कर प्रचलित धारणा या पूर्वग्रह से प्रेरित होकर आँके जाने थे । हालांकि इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि इन निष्कर्षों में भी पुनरावृत्ति और अतिव्याप्ति का दोष रहा है, पर इन सीमाओं के बावजूद इस नये माहौल से हिंदी आलोचना को स्वस्थ राय बनाने में मदद अवश्य मिली है ।

-: ********* :-

संदर्भ सुची

1. "छठवाँ दशक" - विजयदेव नारायण साही । हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रकाशन, इलाहाबाद । प्रथम संस्करण-1967, पृष्ठ 195
2. वही, पृष्ठ 195
3. वही, पृष्ठ 196
4. वही, पृष्ठ 196
5. वही, पृष्ठ 196
6. वही, पृष्ठ 196 -197
7. वही, पृष्ठ 196 -197
8. वही, पृष्ठ 213
9. वही, पृष्ठ 213
10. वही, पृष्ठ 213
11. वहीं, पृष्ठ 215
12. वही, पृष्ठ 215
13. "माध्यम", जनवरी 1965, पृष्ठ 84
14. वही, पृष्ठ 87
15. "माध्यम", मार्च 1965, पृष्ठ 81
16. "माध्यम", अप्रैल 1965, पृष्ठ 105
17. "माध्यम", जून 1965, पृष्ठ 73
18. वही, पृष्ठ 75
19. वही, पृष्ठ 80
20. वही, पृष्ठ 84

21. "माध्यम", अगस्त 1965, पृष्ठ 67

22. वही, पृष्ठ 70

23. "माध्यम", सितम्बर 1965, पृष्ठ 64

24. वही, पृष्ठ 65

25. वही, पृष्ठ 65

26. "माध्यम" जून 1966, पृष्ठ 45

27. वही, पृष्ठ45

28. "माध्यम", सितम्बर 1966, पृष्ठ 50

29. वही, पृष्ठ 53

30. वही, पृष्ठ 61

31. वही, पृष्ठ 62

32. वही, पृष्ठ 62

33. वही, पृष्ठ 76

34. "माध्यम", जनवरी 1967, पृष्ठ 75

35. "माध्यम", मार्च 1967, पृष्ठ 65

36. "माध्यम", जून 1967, पृष्ठ 59

37. "माध्यम", जुलाई 1967, पृष्ठ 64

38. वही, पृष्ठ 65

39. "माध्यम", जुलाई 1968, पृष्ठ 61

40. वही, पृष्ठ 66

41. वही, पृष्ठ 66

42. "माध्यम", अक्तूबर 1968, पृष्ठ 64

43. "कल्पना", अंक 265, पृष्ठ 72

-: ****** :-

तृतीय अध्याय

कथा साहित्य की आलोचना और विवेचना

कथा-साहित्य की आलोचना और "विवेचना"

हिन्दी में कथा-साहित्य का प्रवेश आधुनिकता के आगमन के समय ही होता है । अपने आरम्भ से लेकर आज तक इस विधा ने जीवन के वैषम्य और उस के विविध पहलुओं पर पर्याप्त दृष्टि डाली है । लेकिन आधुनिक काल में गद्य को और कथा-साहित्य की केन्द्रीय विधा स्वीकार लेने के बावजूद उस की आलोचना की न तो ठीक-ठाक पद्धति ही विकसित हुई और न सुचिंतित दृष्टि सामने आयी । यह देखकर आश्चर्य होता है कि आधुनिक काल के भारतेन्दु युग से लेकर, द्विवेदी युग और फिर छायावाद युग में जितना कविता पर लिखा गया उसका दशांश भी गद्य पर नहीं लिखा गया । इस स्तर पर कथा-साहित्य की और भी दुर्दशा लक्षित होती है । इस बारे में यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि कथा-साहित्य पर जो कुछ लिखा भी गया तो कविता केन्द्रित पैमाने पर । इस स्थिति का दुष्परिणाम यह हुआ कि न तो पाठकों में कविता से अलग कथा की आधुनिक समझ बन पाई और न नये रचनाकारों में कथा लेखन की सार्थक प्रेरणा पैदा हो पाई ।

छायावाद की कवितामय स्थिति ने केवल कुछ लोगों को ही अपने चिंतन से दूर रखा । जो दूर रहकर जीवन-यथार्थ की स्थितियों से जूझता रहा वह कुछ दे सका और जिसने ऐसा करने की हिम्मत नहीं दिखाई वे समय के बहाव में भटक गये ।

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद भी कविता केन्द्रित वाद रहे । बाद में नयी कविता ने पूरे साहित्यिक परिदृश्य को कवितामयता में रूपांतरित कर दिया । इस लिये कथा-आलोचना की स्थिति में किसी सुधार की आशा क्षीण होती गई। नयी कविता के समानांतर जब नयी कहानी आंदोलन शुरू हुआ तो भी स्फुट निबंधों के माध्यम से ही कथा-आलोचना का क्रम जारी रहा । ऐसी स्थिति में 1964 से 1969 तक के काल में "विवेचना" की गोष्ठियों ने कुछ सार्थक प्रयत्न की पहल की । जीवन और परिवेश के बीच कहानी और उपन्यास की उपादेयता से लेकर उसके कथ्य और शिल्प की पारंपरिकता और रूढ़ियों

वाली समीक्षा दृष्टि नि:सृत हुई । यह आश्चर्य होता है कि 1964 के पूर्व हिन्दी कथा आलोचना पर गंभीरता तथा उदारता वाली दृष्टि का नितांत अभाव है । इस दिशा में ध्यान केन्द्रित कर "विवेचना" ने कथा-उपन्यास को पूरी गंभीरता से लिया और आगे के दिनों की आश्वस्ति जगायी । "विवेचना" की गोष्ठियों ने कथाकारों और समीक्षकों के बीच संवाद भी स्थापित कराया जिससे रचना और आलोचना की समझदारी विकसित हुई । इस अध्याय में हम यह भी देखेंगे कि कथा की आलोचना में "विवेचना" की और भी क्या-क्या भूमिका रही है तथा उससे कथा-आलोचना की कौन-सी नयी सोच उभरकर सामने आई है ।

****

कथा-साहित्य की आलोचना और "विवेचना"

{"माध्यम", मई 1964} "विवेचना" का आरंभ ही हुआ था-"चारु चंद्र लेख" की चर्चा से, जो आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का प्रसिद्ध उपन्यास है । इस उपन्यास पर देवीशंकर अवस्थी ने अपने निबंध में लिखा था कि इस उपन्यास में वाह्य वस्तुनिष्ठता बराबर रही है । कथा की बुनावट अंत: प्रयाण पर आधारित नहीं है । "चारुचंद्रलेख" में द्विवेदी जी को खुलकर खेलने का {कल्पना शक्ति को} अवकाश मिला है । मुख्य कथा की क्षीणता को लेखक की उर्वर कल्पना ने अनेक ऐतिहासिक प्रसंगों, प्रसंगच्युत रोचक कथाओं, प्रकृति-सुषमा, उद्बोधनात्मक विचारों आदि से पृथुलता में परिवर्तित करने की चेष्टा की है । अस्तु इस चेतना में कल्पना भागती गयी है- बगैर शिल्प पर विचार किए, ठोस परिस्थितियों पर विचार किये, कथा की संभावनाओं, प्रतीतियों एवं मूल्य सत्ता पर विचार किए ।[1]

इस लंबे उद्धरण में अवस्थी ने "चारु चन्द्रलेख" की रचना-प्रक्रिया की विवेचना करते हुए उसके अभिव्यक्ति पक्ष को परखने की कोशिश की है । अवस्थी का यह आरोप कि इस उपन्यास में बाह्य वस्तुनिष्ठता पर बल दिया गया है और कथा की आंतरिक निर्मिति लचर हो गई है, यह सिद्ध करने के लिए काफी है कि इस उपन्यास में द्विवेदी जी अनुभूति और अभिव्यक्ति की तारतम्यता बिठाने में असफल रहे हैं । तो क्या यह मान लिया जाना चाहिए कि यह कृति असफल है ? कृति की सफलता की एक शर्त यह होती है कि वह लेखक के "प्रामाणिक अनुभव" का अंग हो । लेकिन अवस्थी इस गुण या शर्त का भी अभाव कृति में पाते हैं और कहते हैं-"मेरा आरोप यह है कि लेखक को शिल्प के द्वारा अपनी सामग्री या विषय-वस्तु की जो परिचर्या करनी थी, वह नहीं कर सका । इसे निष्ठा का अभाव भी कहा जा सकता है । परिणामस्वरूप प्रस्तुत उपन्यास में कच्चे माल का जिस परिणत कथावस्तु में रूपांतरण होता है, वह संदिग्ध है । एक महत्वपूर्ण समीक्षक द्वारा लिखे जाने वाले उपन्यास में यह अनवधानता कुछ विचित्र सी लगती है । इसी

लिए यह संदेह करना बहुत अनुचित नहीं लगता कि लेखक ने जो कुछ कहना चाहा है, उसका एक बहुत बड़ा अंश उसके अपने "प्रामाणिक अनुभव" का अंग नहीं है, विचार और पांडित्य का भले ही हो ।"[2]

इस दूसरी अवधारणा से देवीशंकर अवस्थी ने "चारू चंद्रलेख" की सफलता पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया है । वे हर स्तर पर उपन्यास को घेर लेते हैं और द्विवेदी जी को आशंका के दायरे में समेट लेते हैं । रचना-प्रक्रिया के तहत कथा की बुनावट पर विचार करते हुए अवस्थी यह मानते हैं कि द्विवेदी जी की कथा-पद्धति चित्र-समीक्षक की प्रणाली जैसी है । इसका उदाहरण देते हुए उनका तर्क है कि लेखक ने पात्रों को अतीत की गैलरी में निश्चित चित्रों की भांति उनके निश्चित स्थानों पर टाँग दिया है और परवर्ती इतिहास के आलोक-बिन्दु पर खड़े होकर उनकी समीक्षात्मक परीक्षा की है । इतना ही नहीं, अंतिम भाग में पुन: सबको उतारकर उनके वास्तविक स्थान असफलता के अंधकार में भेज दिया है । इस पद्धति का परिणाम यह हुआ है कि "अभिप्रेतता" और "संवादों का योग", "चरित्र विकास"में कम हुआ है और प्रमुख कथानक की भी इस कार्य में उपेक्षा हुई है ।[3]

कहना न होगा कि इस विवेचन से अवस्थी यह सिद्ध करना चाहते है कि कथा-कल्पना की सारी कठिनाई आचार्य द्विवेदी की वह द्विधा विभक्ति है जिसमें वे अतीत के प्रति प्रामाणिक बने रहते हुए भी पूरे के पूरे वर्तमान समाज का रूपांतरण भी करना चाहते हैं । ऐतिहासिक तथ्यों के चुनाव पर आपत्ति उठाने के साथ-साथ अवस्थी ने द्विवेदी जी की अभिव्यक्ति शैली को भी कोसा है । उनका कथन है- "यहाँ पर इस संदर्भ में "बाणभट्ट की आत्मकथा" का स्मरण स्वाभाविक भी होगा और संगत भी । वह इसलिए कि उसके द्वारा प्रस्तुत उपन्यास की असफलता को अच्छी तरह समझा जा सकेगा । इसके अतिरिक्त जब मैं यह सवाल करता हूँ कि "चारू चन्द्रलेख" जैसे उपन्यास में, जो कि रोमांस अभिप्रायों को लेकर चला है, आत्म-कथात्मक शैली क्यों अपनाया गया ? तो तत्काल जो बात दिमाग में आती है, वह यह कि एक बार "बाणभट्ट की आत्मकथा" में उसने इस शिल्प को सिद्ध

करने में अद्भुत सफलता प्राप्त की थी- अत: प्रस्तुत उपन्यास को लिखने के समय भी अपने परिचित औज़ार का सहारा लेना स्वाभाविक हो जाता है ।[4]

आलेख के अंत में बहुत साफ शब्दों में अवस्थी ने कहा- "वस्तुत: द्विवेदी जी के समस्त औपन्यासिक शिल्प का मूल स्वर वैयक्तिक निबंध का है । वैसी ही उच्छल आवेगमयता, वैसी ही उड़ान, वस्तुओं के छिपे अर्थों को ढूंढने की वैसी ही अभिभूत चेष्टा, प्रसंगच्युत टिप्पणियाँ तथा सूचनाएं, पांडित्य का रेह्टारिक संस्कारों आदि के प्रति अत्यधिक उन्मुखता, प्रामाणिकता प्रकट करने वाली व्याख्याएँ, एक ऐसा मुखौटा जिसकी आड़ से लेखक अपने संघर्ष तथा समस्याओं को व्यक्त कर सकें ।[5]

गोष्ठी में भी इस कृति की जमकर आलोचना हुई । लक्ष्मीकांत वर्मा ने इस की भाषा को छायावादी कहा तो जगदीश गुप्त ने इसमें एककेंद्रियता के बिखराव को लक्ष्य करते हुए लंबे-लंबे भाषणों को आड़े हाथों लिया । गोष्ठी में केवल अमृत राय ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने इस उपन्यास में एक ऐतिहासिक काल के जीवन को वर्तमान संदर्भ में प्रस्तुत करने के प्रयत्न को सराहा । अध्यक्षता कर रहे बालकृष्ण ने भी "चारू चंद्रलेख" की तुलना जैनेंद्र के "जयवर्धन" से करते हुए कहा कि जैनेंद्र का उपन्यास वायवीय वादविवाद और विचारशीलता के दुराग्रह से ग्रस्त सर्वथा असफल कृति है जबकि "चारू चंद्रलेख" में बिखराव अधिक है, किंतु इसमें अनेक ऐसे स्थल हैं जो स्वयं में सफल हैं । पर निष्कर्षत: यह सफल और समृद्ध उपन्यास नहीं बना ।[6]

निसंदेह इस व्यापक विचार-विमर्श के बाद अवस्थी की समीक्षा दृष्टि के निष्कर्ष को स्वीकार करना होगा जिन्होंने "चारू चंद्रलेख" की समग्र संरचना के स्तर पर गहन विवेचना की । इसमें भाषा, शिल्प, कथ्य और लेखकीय उपादेयता पर भी विचार हुआ है ।

(माध्यम", अगस्त 1964) यह महज़ संयोग ही है कि "यह पंथ बंधु था" की संरचना द्विवेदी जी कृति से सर्वथा अलग पूर्णतया आधुनिक उपन्यास की है। इस पर अपनी समीक्षा के आरम्भ में ही नेमिचंद्र जैन ने यह लिखा कि यह उपन्यास इस यथार्थोन्मुख अभियान का पथ चिन्ह है। उसमें आज की तमाम औपन्यासिक विशिष्टतायें विभिन्न रूपों में तथा विभिन्न पारस्परिक अनुपातों और संतुलनों में न केवल मौजूद हैं, बल्कि एक कलात्मक उपलब्धि के स्तर पर अभिव्यक्त हो सकी हैं। उसमें एक युग के सामाजिक जीवन के मूल्यों और मान्यताओं की पृष्ठभूमि में वैयक्तिक जीवन का बड़ा संवेदनशील और आत्मीयतापूर्ण चित्र है जो भावसंकुल और तीखा भी है और संयत भी।[7]

इस तरह नेमिचंद्र जैन ने आरंभ में ही इस उपन्यास को उल्लेखनीय पथ चिन्ह मान लिया है। अब देखा ये जाय कि उपन्यास को समग्रता में देखने के बाद वे इसे कहाँ तक सफल मानते हैं।

उपन्यास मालवा के एक छोटे से कस्बे के अत्यंत साधारण सरकारी शिक्षक श्रीधर ठाकुर की कथा पर आधारित है। तमाम स्थितियों के बीच उसके सारे सगे-संबंधी एक-एक कर उसका साथ छोड़ देते हैं। पत्नी यक्ष्मा का शिकार हो अपनी मायके रहती है। उसकी त्रासदी यह है कि वह (श्रीधर) अपने राज्य का इतिहास लिखकर प्रशंसा पाता है और प्रशासकीय उपेक्षा का शिकार होकर नौकरी से हाथ धो बैठता है। आतंक और व्यभिचार के साए में रहते हुए ही उसके परिवार की यह दशा होती है। अंत में वह मानव इतिहास लिखने का संकल्प लेता है।

नेमिचंद्र जैन का मानना है कि इस उपन्यास में व्यक्ति और परिवेश के संघात की अभिव्यक्ति मिलती है। यह जितनी श्रीधर की जीवन गाथा है उतनी ही उसकी पत्नी सरो की भी। इस दृष्टि से यह उपन्यास पुराने ढंग के सम्मिलित परिवार के विघटन की भी कथा है। और उसकी चक्की में एक सुकुमार आस्थावान स्त्री के पिस जाने की कथा भी, जो भारतीय नारी के

विडंबनापूर्ण जीवन के एक समूचे युग को रूपायित करती है । भारतीय पारिवारिक जीवन की विश्रृंखलता, जर्जरता, विकृति और अमानवीयता के ऐसे कारूणिक चित्र हिंदी में बहुत कम हैं ।[8]

यह विवेचन नेमिचंद्र जैन की पूर्व घोषणा की पुष्टि है जिसमें उन्होंने कहा था कि यह उपन्यास यथार्थोन्मुख अभियान का पथ चिन्ह है । सारांश यह कि समीक्षक ने कथा की बुनावट को केंद्र में रखकर उपन्यास की विवेचना करने का प्रयत्न किया है । अब "कलात्मक उपलब्धि की अभिव्यक्ति" को परखा जाय- नेमि जी ने एक स्थल पर "जीवन के प्रति दृष्टिकोण" के प्रश्न पर विचार करते हुए लिखा- "यह पथ बंधु था" में जीवन के प्रति दृष्टिकोण के स्तर पर बड़ा सरलीकरण दिखाई पड़ता है । उसके पात्र साधारण हों या असाधारण, या तो भले हैं या फिर बुरे । उनमें आंतरिक द्वंद्व, परस्पर विरोधी तत्वों का संघर्ष तथा उससे उत्पन्न तनाव तथा दबाव नहीं है । वे एक ही आयाम में जीते हैं, जो इस अर्थ में रोमैंटिक, आत्मपरक और एक पक्षीय हैं । यही स्थिति बाह्य घटनाओं और परिस्थितियों के चित्रण में भी स्पष्ट है । इस एकायामिता के कारण ही इस उपन्यास में "करूणा" तो है पर विक्षोभ, विस्फोट या टकराहट नहीं । केवल श्रीधर, सरो ही नहीं, इस उपन्यास में चित्रित समस्त जीवन में एक ऐसी निरीहता, निष्क्रियता और आंतरिक गति का अभाव है कि जीवन की अदम्यता का, उसकी अजस्त्र गतिमानता का, उसके उद्वेलन का कोई चिन्ह नहीं मिलता ।[9]

लेकिन इतना सबके बावजूद वह कैसे "कलात्मक उपलब्धि" है ? इस प्रश्न का जवाब जब उपन्यास की आंतरिकता की विवेचना के बाद नहीं मिला, तब कहाँ मिलेगा । इस स्तर पर नेमिचंद्र जैन जी अपने ही विचारों के विरोध में खड़े होते हैं । लेकिन एक स्थल पर वे अपने को संभालने का प्रयास करते हैं जब वे कहते हैं कि इस रोमैंटिक रूझान के बावजूद यह उपन्यास निरा कल्पना-विलास और सस्ती भावुकतापूर्ण कथा होने से बच गया है और एक कलात्मक उपलब्धि का रूप ले सका है ।[10]

पर क्या तनाव-द्वंद्वहीन जीवन स्थितियों के इस उपन्यास को केवल इस स्तर पर उत्कृष्ट उपन्यास मान लिया जाये कि उसमें अतिरिक्त नाटकीयता, कल्पना, असंयम या भावातिरेक नहीं है ? आत्मीयता, भाषा-सौष्ठव, भावनाशीलता का संयम, तीव्र सघनता के होने पर भी उपन्यास निर्दोष नहीं माना जा सकता । लगता है, नेमिजी अपनी ईमानदारी और लेखक से गहरे जुड़ाव के द्वंद्व में फंसकर बहुत साफ तौर पर सामने नहीं आ पाए हैं । हालांकि इस पर यह तर्क भी दिया जा सकता है कि "गोदान" जैसे उपन्यास में भी प्रेमचन्द ने बहुआयामिता नहीं दिखाई है । "होरी" का चरित्र तो आदि से अंत तक बिल्कुल सपाट ही है, फिर भी क्या उससे बेहतर उपन्यास लिखा जा सका ! "विवेचना" की गोष्ठी में भी यही उथल-पुथल रही । मूल समीक्षा से हटकर उपेन्द्रनाथ अश्क ने जो बोलना शुरू किया तो बाद के वक्ताओं ने भी इसी परिपाटी का अनुसरण किया चाहे वे साही रहे हों या फिर सत्यव्रत सिन्हा या इलाचंद्र जोशी ।[11]

इस प्रकार नेमिजी ने "यह पंथ बंधु था" को उसकी पूर्णता में मूल्यांकित कर कथा साहित्य में उसकी स्थिति निर्धारित की ।

(*"माध्यम", अक्तूबर 1964*) लेकिन "अपने-अपने अजनबी" अज्ञेय का तत्कालीन उपन्यास इन दोनों पूर्ववर्ती कृतियों से अलग "विवेचना" की गोष्ठी में पर्याप्त चर्चा के केन्द्र में रहा । निबंधकार रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इस कृति को अपने स्तर का अनूठा उपन्यास कहा । चतुर्वेदी का कथन है- "यों लेखक के पिछले दोनों उपन्यासों की तुलना में "अपने-अपने अजनबी" कहीं अधिक उपन्यास है- इस माने में कि उसमें एक रचना-दृष्टि विकसित हुई है- और वह भी क्लैसिकल ढंग के विस्तार और वर्णन के बीच से नहीं, वरन् आधुनिक उपन्यास के सूक्ष्म विधान के माध्यम से । उपन्यास का विधान लेखक का अपना है, पर एकदम ढला हुआ । उसके माध्यम से जो कुछ उसे कहना है, वह अनायास ही उभर उभरता है । पिछले उपन्यासों में जो "व्यक्तित्व की खोज" आरंभ हुई थी- इस उपन्यास में उसकी एक ढंग की निष्पत्ति है, जो शायद फिर आगे

की खोज के लिए प्रेरणा दे ।[12]

यहाँ यह देखना दिलचस्प होगा कि क्या "अपने-अपने अजनबी" इस कसौटी पर खरा उतरता है ? रामस्वरूप चतुर्वेदी जब ये कहते हैं कि यह उपन्यास अज्ञेय के पिछले दोनों उपन्यासों "शेखर एक जीवनी" तथा "नदी के द्वीप" से कहीं अधिक उपन्यास है, तो यह बात तार्किक लगती है कि इस उपन्यास में औपन्यासिक शिल्प सुगठित है । पर जब निबंधकार यह कहते हैं कि "अपने-अपने अजनबी" लेखक की "अभिव्यक्ति की खोज"की निष्पति है तो इसके लिए समीक्षक के विचारों और उपन्यासकार के कथ्य के बीच संगति तलाशनी होगी ।

ज्ञातव्य है कि "अपने-अपने अजनबी" "अस्तित्ववाद" के प्रभाव पर लिखा गया उपन्यास है । अस्तित्ववाद की जीवन दृष्टि द्वितीय महायुद्ध के बाद समूचे यूरोप में फैली और बाद में वह दुनिया भर में प्रसारित हुई । उसने व्यक्ति को मानसिक स्तर पर काफी उद्वेलित-आंदोलन किया । भारत की चिंता-धारा में मृत्यु को उतना असाधारण महत्व नहीं मिला जितना कि यूरोप के अस्तित्ववाद में मिला । हमारी भारतीय परंपरा की काल दृष्टि वृत्तात्मक है इसलिए जीवन को ही आत्यंतिक महत्व से नहीं देखा जाता, फिर मृत्यु, तो महज आत्मा का शरीर परिवर्तन है । पश्चिम के अस्तित्ववाद का जन्म महायुद्धों की विभीषिका और पारिवारिक विघटन के पश्चात हुआ । वहाँ के व्यक्तियों ने मृत्यु की आकस्मिकता और अनिश्चयता को देखा और भोगा । पर भारत में इस तरह के व्यक्तित्व की खोज की जरूरत क्यों कर महसूस हुई ।

चतुर्वेदी इस प्रश्न का उत्तर इन पंक्तियों में देते हैं- "समकालीन साहित्य में पूर्व और पश्चिम की टकराहट का साक्ष्य अज्ञेय के कृतित्व ने आरंभ से प्रस्तुत किया है ।[13] इस बचाव के बावजूद समीक्षक ने अपने स्तर पर कृति से टकराने की भरपूर चेष्टा की है । मसलन-लेखक की अपनी रचना-दृष्टि की मुख्य उपपत्ति है- "मृत्यु के माध्यम से जीवन की सार्थकता का सिद्ध होना ।"

लेकिन पड़ताल के बाद स्वयं समीक्षक का कहना है कि अस्तित्ववादी दृष्टि से टकराने पर जो एक अधिक सार्थक दृष्टि विकसित होनी चाहिए, वह न सेल्मा में मिलती है न जगन्नाथन में । इन्हें आप चाहें भारतीय दृष्टि का प्रतिनिधि मानें या परंपरित आस्थावान यूरोपीय दृष्टि का प्रतीक समझें, इनके माध्यम से योके के जीवन और मृत्यु में कोई संगति या सार्थकता उत्पन्न नहीं हो पाती ।[14]

इस निबंध में समीक्षक ने वैचारिक विश्लेषण की पद्धति अपनाई है किन्तु उसने कृति की संरचना को भी परखने का प्रयत्न किया है । इस स्तर पर उसने यह माना है कि शिल्प की सुगठता के बावजूद विधान की दृष्टि से यह काफी लचर पड़ गया है । भाषा के स्तर पर समीक्षक को सर्जनात्मक भाषिक विधान परखी लगती है जहाँ भाषा एकदम सादी और निराग्रही है । आगे वह यह भी स्वीकार करता है कि इस उपन्यास में कविता और गद्यभाषा का अंत: संपर्क हुआ है ।[15]

"विवेचना" की गोष्ठी में लगभग सारे वक्ताओं ने इस कृति पर कई आपत्तियाँ कीं । अध्यक्ष बालकृष्ण राव ने इसे बौद्धिक-विलास और पांडित्य-प्रदर्शन की कृति कहा और इसकी भाषा को कृत्रिम और असहज । गंगा प्रसाद पाण्डेय ने इस अस्तित्ववादी उपन्यास कहते हुए इसमें सार्त्र के विकृत अस्तित्ववाद का प्रतिपादन बताया । विश्वंभर मानव ने इसे महत्वपूर्ण कृति मानते हुए वैराग्य और निराश का उपन्यास कहा ।[16]

इस प्रकार इस विचारोत्तेजक बहस के बाद यह स्पष्ट होता है कि समीक्षक ने अपनी इस कोशिश में सफलता पाई कि यह उपन्यास हिन्दी का एक महत्वपूर्ण उपन्यास है जो पूर्व-पश्चिम की टकराहट से जन्मा । इसमें शिल्प के गठन की प्रौढ़ता के साथ-साथ उसने भाषा की सादी और निराग्रही होने को विशिष्ट कहा । पर "व्यक्तित्व की खोज" की निष्पत्ति को उसने प्रमाणित नहीं किया ।

§"माध्यम", फ़रवरी 1965§ "अंधेरे बंद कमरे" मोहन राकेश का उपन्यास है जिसकी चर्चा "विवेचना" में इलाचंद्र जोशी के निबंध पर हुई । जोशी ने निबंध के आरंभ में ही इस उपन्यास को अंधेरे में खड़ा कर दिया- "अंधेरे बंद कमरे" के लेखक ने उपन्यास में वर्णित उस विशेष युग के जीवन के अंत: रहस्यों का उद्‌घाटन करने के बजाय केवल युग की बदली हुई ऊपरी वेश-भूषा का विश्लेषित चित्र प्रस्तुत करके ही अपने कर्त्तव्य की इति श्री समझ लिया है ।[17]

यहाँ इतना ही नहीं है कि समीक्षक ने और चीज़ों को छोड़ दिया हो । उसने उपन्यास की कथा को भी कोसा है और यह बताया है कि शुरू से अंत तक उपन्यास में सपाटता है । इस सपाटता के कारण ही न वातावरण में परिवर्तन आता है और न पात्रों की मन: स्थितियों में । उपन्यास में "नैरेटर" शैली के इस्तेमाल को भी समीक्षक पूरे उपन्यास पर लागू करने को ग़लत मानता है । हालांकि वह इस शैली में संकेतपूर्ण आभास देते हुए धीरे धीरे बड़ी ही रसमयता और इत्मीनान के साथ राज़ की गांठे खोलता है, कहकर समीक्षक ने इस शैली की प्रशंसा भी की है ।[18]

कथाकार शैली के चाहे जिस रूप को लें, उसके लिए यह तो अनिवार्य ही है कि वह पात्रों की बाहरी और भीतरी क्रियाकलाप, उनके अंतर्विरोधों, द्वन्द्वों को बखूबी चित्रित करे और जब इस तरह का चित्रण होगा तो वातावरण में परिवर्तन तो आता ही रहेगा । लेकिन यहाँ समीक्षक ने यह आरोप लगाया ही है कि इस कृति के पात्रों की आन्तरिक तनाव की स्थिति और वातावरण में कोई परिवर्तन नहीं आता । इस सतही दृष्टि का कारण तलाशने पर समीक्षक की यह आपत्ति द्रष्टव्य है-

> "पात्रों में तनावहीनता का प्रधान कारण यह है कि वे सारे पात्र प्रत्यक्ष रूप से एक-दूसरे के आमने-सामने आकर नहीं टकराते । उनके संबंध में अधिकांशत: नैरेटर ही अप्रत्यक्ष परिचय पाठक को एक संवाद पत्र के रिपोर्टर की तरह देता है ।[19]

इस आलोचकीय आपत्ति के बाद यह देखना शायद ज्यादा आवश्यक है कि लेखक ने जिस जीवन को इस कृति में लिया है, उसकी किन स्तरों पर प्रासंगिकता है और वह क्यों पाठकीय रूचि के लिए चुना गया है । इस स्तर पर भी समीक्षक को निराश होती है । उसका कथन है कि"अंधेरे बंद कमरे" में आधुनिकतम जीवन की जो झांकी हमें देखने को मिलती है वह ऐसी सतही और छिछली है कि केवल दो-तीन सप्ताह के लिए अमर ही अमर से नयी दिल्ली की सैर करने वाला साधारण रूप से समझदार व्यक्ति भी शायद उतने ही अधिक रख लेता है ।[20]

इस टिप्पणी से यह स्पष्ट है कि लेखक ने व्यक्तिगत कशमकश और रूचि को नितांत वैयक्तिक स्तर पर चित्रित किया है । उसे वह व्यापक सामाजिक सरोकारों से जोड़ने की कोशिश नहीं की है । यही कारण है कि यह उपन्यास सतही जीवन-स्थितियों तक सिमटकर रह गया है ।

इस प्रकार इस विवेचना में समीक्षक ने उपन्यास की जीवन दृष्टि की पड़ताल कर उसकी रचना-प्रक्रिया पर भी विचार करने की कोशिश की है । कथा की बुनावट में पात्रों का निर्द्वन्द्व भाव, वातावरण की अपरिवर्तनीयता, शैली की एकसरता तथा आधुनिकता के नाम पर अपसंस्कृति की छिछली मानसिकता को इस उपन्यास की कमजोरी बताया है । "विवेचना" की गोष्ठी में भी विद्वानों ने इलाचंद्र जोशी की इस समीक्षा से सहमति व्यक्त की । इन विद्वानों में रामस्वरूप चतुर्वेदी, विश्वंभर मानव, गिरिराज किशोर, सुरेन्द्र पाल, नरेश मेहता आदि शामिल हैं । बालकृष्ण राव ने भी अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में कहा कि उपन्यास में जो अमरी चित्रण हुआ है उसका कोई लाभ नहीं है, उसकी गहराई में जाना बड़ी बात है ।[21]

§"माध्यम", दिसम्बर 1964§ उपेन्द्रनाथ "अश्क" हिन्दी साहित्य में नाटककार के रूप में जाने जाते हैं पर उन्होंने साहित्य की दूसरी विधाओं में भी काफी गंभीरता से कार्य किया है । इस क्रम में उनका उपन्यास "शहर में घूमता आईना" विचारणीय है जो कई स्तरों पर पाठकों-आलोचकों को नएपन का बोध कराता है । "विवेचना" में इस पर विचार करते हुए

बच्चन सिंह ने लिखा- "यह अपने रूपविन्यास में अलग होने, तथा गठित उपन्यास परंपरा से अलग जा पड़ने के कारण अधिक लोगों का ध्यान आकृष्ट कर सका है । इसमें संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, अंतर्स्मृतियों का जो अंतर्भाव किया गया है, वह इसे अनोखा रूप देता है ।[22] यह वक्तव्य देते हुए समीक्षक ने स्वयं यह प्रश्न उठाये हैं कि वह कौन सा कथ्य है जिसके लिए इस नवीन रूप विन्यास की अनिवार्यता आ पड़ी ? क्या इसमें वस्तु और रूप का अभेद स्थापित हो पाया है ? लेखक का वह कौन-सा "विजन" है जो इस रूप में ही प्रकट सकता था, दूसरे में नहीं । इस आईने में उभरने वाले चित्र किस सीमा तक एक संपूर्ण चित्र आँक पाते हैं, और वह चित्र पाठकों की संवेदना को किस प्रकार परिष्कृत करता है ?[23]

उपन्यास का नायक चेतन अश्क के इसके पहले के उपन्यास "गिरती दीवारें" का ही चेतन है, ऐसा समीक्षक का मानना है । यह चेतन एक तरफ तो घरेलू अपराध बोध से ग्रस्त है दूसरी तरफ वह अपने कैरियर को लेकर परेशान । लेकिन बकौल समीक्षक उसमें बुद्धिवाद है और मीडियाकरपन है ।[24] फिर "विजन" को लेकर भी समीक्षक ने यह साफ कहा है कि चेतन में हार या लाचारी नहीं है । उसमें आस्था का तीखा स्वर भी है पर उसमें आस्था नहीं है, इसीलिए वह आधुनिकता से असंपृक्त रह जाता है ।[25]

उपन्यास की बुनावट पर विचार करते हुए समीक्षक की नकारवादी सोच ही सामने आती है । उसका कहना है कि कुछ सार्थक दृश्यों, चरित्रों, विवरणों को छोड़कर इसमें बहुत से विवरण ऐसे हैं जो किसी भी तरह इसके अंग नहीं बन पाते । और आगे यह कि कोरी डाक्यूमेन्ट्री इस उपन्यास को जगह जगह बाँध लेती है और उसका प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है ।[26]

तकनीक या शिल्प की विविधता को रेखांकित करते हुए बच्चन सिंह ने इसमें वैविध्य देखा है । उनका कथन है- "बारह घंटे में संपूर्ण अतीत को उभार देना अपने आप में काफी महत्वपूर्ण है । इसके लिए संस्मरणों को जुटाया गया है, रूपरेखा का चित्र बड़ी ही बारीकी से खींचा गया है । फ्लैश बैक का भी

प्रचुर प्रयोग हुआ है । प्रतीकों तथा बिंबों की योजना तो अच्छी है ही, अलग-अलग कथाओं के निर्माण के द्वारा इसे परंपरा से काटकर नये सौन्दर्य की सृष्ट का भी प्रयास हुआ है । अश्क जी की भाषा का कहना ही क्या है ? बारीक से बारीक चित्रण में वह सहज समर्थ हैं । फिर खेद है कि इस निर्मिति के पीछे श्रम है, श्रमिक नहीं, शिल्प है शिल्पी नहीं ।[27]

इस प्रकार समीक्षक की स्थापनाएं और विरोध एक दूसरे का खंडन कर हमें चौंकाते हैं । यह अन्तर्विरोध न तो कृति को समझने में मददगार होता है और न सही मूल्यांकन में । यह बड़े आश्चर्य की बात है कि जिन-जिन बातों को समीक्षक ने इस उपन्यास की विशेषताएं गिना गया है, विवेचना में वह उन्हीं का खंडन करता है । विवेचना की यह पद्धति न तो संरचनात्मक है और दृष्टबोधात्मक । गोष्ठी में अमृत राय सहित डॉ0 रघुवंश ने समीक्षक की खंडनात्मक टिप्पणी से सहमति व्यक्त की जबकि रामस्वरूप चतुर्वेदी और विनय मोहन शर्मा ने अपनी आपत्तियों को कुछ दूसरे तरीके से उठाते हुए उपन्यास की वर्णनात्मकता को सराहा तथा शिल्प की नवीनता वाली स्थापना को नकारा ।[28] लेकिन कुल मिलाकर अश्क का यह उपन्यास पूरी गोष्ठी में पहेली बना रहा । अगर चेतन ही वह "आईना" है जो जालंधर शहर में घूम रहा है तो क्या वह अपने वर्गीय चरित्र को नहीं उभार पा रहा, या कि अपने उभार में अपनी दृष्टि नहीं बता रहा, इसका जवाब यहाँ नहीं मिलता ।

("माध्यम", नवम्बर 1965) "झूठा सच" यशपाल का प्रसिद्ध उपन्यास है । अपने कथ्य और कलेवर दोनों ही स्तरों पर यह उपन्यास काफी चर्चित रहा है । इस उपन्यास की समीक्षा प्रस्तुत करते हुए इन्द्रनाथ मदान ने लिखा- "यशपाल का "झूठा सच" केवल इस उपन्यास का नाम ही नहीं है, यह एक जीवन दृष्टि भी है जो इनकी समस्त उपन्यास कला के उद्देश्य के मूल में है । इसलिए इस उपन्यास का मूल्यांकन भी यदि लेखक के इस जीवन-बोध से अवगत होकर किया जाता तो शायद अधिक संगत होता ।"[29]

समीक्षक ने यहाँ अपनी बात स्पष्ट कर दी है कि चूंकि यशपाल की उपन्यास कला के मूल में जीवन दृष्टि है, इसलिए इसी के तहत इस उपन्यास की समीक्षा आवश्यकता है । विभिन्न समीक्षकों का पर्याप्त प्रतिवाद करने के बाद मदान जीवनदृष्टि की खोज पर निकलते हैं । उनका कहना है- "यशपाल का मुनि आधुनिकता की चुनौती को स्वीकार करता आया है जिसके मूल में युग का बौद्धिक विकास तथा वैज्ञानिकदृष्टि है । यशपाल के मुनि के लिए आधुनिकता एक प्रक्रिया न होकर एक मूल्य है और रूढ़ न होकर विकास-शील है । इसीलिए उनका मुनि कभी सुधारवादी है तो कभी भौतिकवादी, कभी इस पर मार्क्स के चिंतन का प्रभाव है, तो कभी फ्रायड के चिंतन की छाप। वह शुरू से आधुनिकता की चुनौती को प्राय: वैचारिक धरातल पर ही स्वीकार करता आया है ।"[30]

आधुनिकता को मूल्य मानकर यशपाल का मुनि कभी सुधारवादी होता है तो कभी भौतिकवादी । इसी स्तर पर वह मार्क्स और फ्रायड से प्रभावित होता है । अब देखना यह है कि यशपाल की दृष्टि में झूठ और सच की क्या मान्यता है । बक़ौल समीक्षक (यशपाल के मंतव्यों के आधार पर) तारा का सोमराज की पत्नी होना झूठा सच है, यह क़ानूनी तौर पर सच है और नैतिक तथा न्याय की दृष्टि से झूठ है । यह झूठा सच न केवल इस उपन्यास का आधार है बल्कि इस उपन्यासकार की जीवन-दृष्टि का मूल सूत्र भी है, उनकी उपन्यास-कला का मूल स्वर भी है । नैयर के मुख से वे इसका स्पष्टी-करण भी देते हैं- "घटना तो सच झूठा नहीं होती । झूठ या सच तो इसे व्यक्त करने की दृष्टि में या उसे सोद्देश्य बनाने में होता है ।"[31]

इस उद्धरण के बाद हमें वापस समीक्षक की ओर लौटना होगा जिसका मानना है कि झूठ तथा सच की समस्या को इस उपन्यास में मूलत: प्रेम, शादी और तलाक के माध्यम से और अंशत: पुरी के पतन के माध्यम से उठाया गया है । प्रेम तथा विवाह आदि की समस्या से सम्बद्ध यहाँ अनेक युगल हैं जिनमें तारा-सोमराज, तारा-नाथ, कनक-पुरी, कनक-गिल, शीशो-मोहन मुख्य हैं।

इन युवक-युवतियों का अंत में विवाह हो जाता है, कुछ का दो-दो बार, कुछ का एक बार । तारा का पति अपनी भाभी को ही रख लेता है । इसका परिणाम यह होता है कि तारा सोमराज पति से तिरस्कृत होकर मर जाती है ।"[32] इसी पर आगे समीक्षक का आरोप है- "यहाँ यशपाल ने आधुनिकता की समस्या को हर तरह की नारी के विवाह के माध्यम से उठाया है । वह अनागत का संकेत देने के लिए आगत की उपेक्षा भी कर जाते हैं । आधुनिकता को निरूपित करने के लिए समसामयिकता की अवहेलना भी कर जाते हैं । इसीलिए मैंने यह कहने का साहस किया कि लेखक ने आधुनिकता की चुनौती को वैचारिक स्तर पर अधिक स्वीकार किया है, अनुभूति के स्तर पर कम ।"[33]

यहाँ इस बात का संकेत कर देना आवश्यक है कि यशपाल ने अपनी ख़ामियों के बावजूद "पवित्रता" के अंहकार को तोड़ने में सफलता पायी है और सतीत्व की धारणा को तोड़कर जड़ मूल्यों का विरोध किया है । उपन्यास में बिखराव भी है और असंगति भी । लेकिन समीक्षक की नज़र में रचना का अभाव भी रचना का रूप हो सकता है ।"[34]

"झूठा-सच" में विभाजन के चित्र को समीक्षक ने विभत्स कहा है । लेकिन वे यह भी मानते हैं कि इसमें कहीं-कहीं मानवीय रूप उपलब्ध होता है ।[35]

आशय यह कि यशपाल ने इस उपन्यास में अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता को स्वरूप दिया है जहाँ मार्क्स और फ्रायड़ दोनों के चिंतन का प्रभाव है । इसीलिए वे एक तरफ़ तो प्रेम और यौन संबंधों की गहराई की पड़ताल कर विवाहादि के विरोध में खड़े होते हैं तो दूसरी तरफ़ हिंदू-मुस्लिम एकता की जरूरत पर बल देकर धर्म के जड़ और विकृत स्वरूप पर हमला करते हैं । झूठ और सच का यही स्वरूप यहाँ काम्य है ।

["माध्यम", विवेचना-मई 1965] "बूंद और समुद्र" अमृतलाल नागर का एक ऐसा उपन्यास है जिसकी कई स्तरों पर प्रशंसा हुई है । "विवेचना में

भी इस पर विचारोत्तेजक बहस हुई । बहस का आरंभ डॉ0 रघुवंश ने अपनी मुख्य समीक्षा पढ़कर की । समीक्षा का आरंभ समीक्षक ने उपन्यास की आलोचनात्मक मानदंडों को रखकर की । उन्होंने विस्तार से यह बताया कि क्लासिक उपन्यासों की क्या-क्या खूबियाँ होती हैं या होनी चाहिए । बहरहाल, बूंद और समुद" पर विचार करते हुए देखें कि यह उपन्यास समीक्षक की अपेक्षाओं पर खरा उतरता है या नहीं ।

डॉ0 रघुवंश ने लिखा- "यह उपन्यास क्लासिकी परंपरा में आता है और युग-जीवन के यथार्थ पर प्रतिष्ठित है । परन्तु प्रारंभ में ही यह समझ लेनी चाहिए कि यह उपन्यास अपने युग-जीवन को बहुत बड़े परिवेश में न ग्रहण करके एक सीमित क्षेत्र में ग्रहण कर प्रस्तुत करता है । जहाँ तक सामाजिक जीवन के व्यापक चित्रण का सवाल है, लेखक ने गली और मोहल्ले की सारी जिंदगी को उसकी विविधता, जटिलता, उलझाव के साथ दृष्टि में रखा है ।"[36]

इस बात से डॉ0 रघुवंश "बूंद और समुद्र" को क्लासिक उपन्यास मानते हैं, ऐसा सिद्ध होता है । कोई भी कृति सर्वथा निर्दोष नहीं होती, इसलिए केवल बड़े परिवेश में युग-जीवन को न लेने के कारण इस उपन्यास को औसत नहीं कहा जा सकता । उपन्यास में चरित्रों की भरमार है, पर सारे चरित्र कथानक को गति देने का कार्य करते हैं । इस स्तर पर चाहे ताई हो या राजा साहब, भूभूती सुनार हो या मनिया तथा शंकरलाल । ये सभी चरित्र अपने सामाजिक यथार्थ को प्रतिफलित करते हैं । लेकिन कहीं-कहीं कल्पनात्मकता चरित्रों को विश्वसनीय बना गई है और संभाव्यता होने के बावजूद कुछ चरित्र आनुभूतिक स्तर पर नहीं लिए जाने के कारण अविश्वसनीय हो गए हैं । ताई और नंदो का चरित्र इन दोनों पक्षों के दिलचस्प उदाहरण हैं । इसका कारण यही है कि लेखक को सामाजिक जीवन और राजनीतिक पचड़ों को स्पष्ट करना है । स्वभावत: इसमें छिद्र रहने संभव हैं । नागर जी की चित्रांकन पद्धति को रेखांकित करते हुए डॉ0रघुवंश ने लिखा है- "सामाजिक जीवन को व्यापक और संश्लिष्ट रूप देने के लिए

वातावरण के माध्यम से उसके अंकन को अधिक गहरा और प्रत्यक्ष बनाने के लिए लेखक ने कई स्थलों तथा स्थितियों पर अधिक ध्यान केंद्रित किया है । जाड़े में छतों पर धूप का जीवन और कुहरे से ढकी चिलचिलाती सर्दी में मुंह-अंधेरे से अपने धंधे लगने वालों और गोमती से नहाकर लौटते हुए लोग लुगाइयों की आवा-जाही से गुलज़ार-गली का केवल संकेतों में उल्लेख हुआ है ।"[37]

औपन्यासिक तनाव की सर्जना पर समीक्षक का कहना है कि प्रस्तुत उपन्यास में समाज और व्यक्ति के जीवन के दो भिन्न स्वरों और क्षेत्रों की इस प्रकार परिकल्पित किया गया है कि दोनों का तनाव, टकराहट और संघर्ष व्यंजित हो और उनकी साफ अलग स्थिति भी ।[38] कहना न होगा कि समीक्षक के इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि वह इस उपन्यास में व्यक्ति और समाज के दो भिन्न स्वरों की संघर्षपूर्ण परिकल्पना को सफल मानता है । समीक्षक के इस मूल्यांकनपरक आलेख में सबसे ज्यादा स्थान चरित्रों की समीक्षा ने ले लिया है । इस क्रम में उसने वनकन्या से लेकर सज्जन, महिपाल आदि पर विस्तार से चर्चा कर गया है और उसके गुणावगुणों पर प्रकाश डाल पाया है । इस प्रकार उसकी अपनी राय में संरचना के स्तर पर यह उपन्यास तो क्लासिक है ही, जैसा कि उसने आरंभ में ही उद्घोषणा की है। पर जीवन दृष्टि की स्थापना और उसके निर्वाह में लेखक की सफलता पर समीक्षक की राय जान ली जाय ।

समीक्षक ने इस प्रश्न पर विचार करते हुए लिखा है- "उपन्यास में एक दूसरा स्तर भी है जिस पर मानवीय नैतिक दृष्टि स्थापित है । बाबा राम का सारा व्यक्तित्व एक मानवीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जिसे इस उपन्यास में व्यंजित जीवन-दृष्टि के रूप में माना जा सकता है ।"[39] आगे की अपनी अंतिम पंक्तियों तक समीक्षक की राय बदल गई है और वह आश्चर्यजनक तरीके से अपनी पिछली स्थापनाओं के विरोध में जा खड़ा होता है । यह राय लेखक ने बाबा राम की विवेचना के बाद व्यक्त की है- "बाबा राम भारत की सधुक्कड़ी और भावना परंपरा का चरित्र है जो गांधी और विनोबा के

समान उसमें आधुनिक जीवन का नया संदर्भ विकसित करता है । प्रेमचंद ने "रंगभूमि" में सूरदास का इसी स्तर पर कहीं मानवीय और जीवंत व्यक्तित्व संघटित किया था । ••• परन्तु यहाँ एक कठिनाई आती है । लेखक को इसके लिए बाबा राम की सेवा और कर्म-प्रवृत्त चरित्र के साथ उनके आध्यात्मिक तथा रहस्यमय व्यक्तित्व का सहारा भी लेना पड़ा । अत: अपने चरित्र की तार्किक संगति में भी यह व्यक्तित्व उपन्यास की यथार्थ-दृष्टि से किसी गहरे स्तर पर संबद्ध नहीं है, और उसकी सेवा, कर्म और त्याग की प्रेरणा पिछले आश्रम स्थापित कराके समाधान प्रस्तुत कराने से आगे हमें नहीं ले जाती ।"[40]

यह प्रश्न सचमुच महत्वपूर्ण है, पर क्या अपनी पूरी निर्मिति में उपन्यास इसी तरह उदासीन है ? समीक्षक यह स्वीकार चुकने के बाद कि इस उपन्यास ने समाज और व्यक्ति के दो भिन्न स्वरों को बहुत ठीक ढंग से परिकल्पित किया है, फिर लेखकीय समाधान से आगे जाने की यह अपेक्षा क्यों कर बैठा ? अमृत राय गोष्ठी में इसके जवाब में यह कहते हैं कि "विस्तार होने के कारण इस तरह की कमजोरी आ जाती है । पर शिकायत भी की, कि समीक्षा अपेक्षित नहीं है । सुरेंद्र पाल की राय में यह शहरी आँचलिक उपन्यास है । विश्वंभर मानव सहित रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि ने इसे अपने ढंग का अनूठा उपन्यास कहा ।"[41]

इस प्रकार डॉ0 रघुवंश ने अपने लेख में तीन स्तरों पर दृष्टि रखी-कसौटी की स्थापना, चरित्र-चित्रण, परीक्षण और खामियों का विवरण । रचना प्रक्रिया और रचना की आंतरिकता के सूत्र को अगर वे सफाई से उठाते तो शायद यह शिकायत नहीं होती ।

§"माध्यम", अक्तूबर-1965§ "भूले बिसरे चित्र" भगवतीचरण वर्मा की ऐतिहासिक कृति है । इस पर विचार करने से पूर्व यह जान लेना जरूरी है कि यह कृति एक सामंत वर्गीय परिवार की चार पीढ़ियों के माध्यम से भगवती बाबू के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को व्यक्त करती है और उसके

माध्यम से सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक खोखलेपन और मानव की दुर्बलताओं पर प्रकाश पड़ा है ।[42]

कथा के विस्तृत फलक को छोड़कर समीक्षक की स्थापनाओं पर ही केंद्रित हुआ जाय । एक स्थल पर समीक्षक लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है- "भूले बिसरे चित्र" की कथा उस युग की है जब जीवन के परंपरागत मूल्य निस्सार और निष्प्राण हो गए थे, देश परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था, ब्रितानी सरकार अपने स्वार्थ के लिए जमींदारों, सामंतों तथा राजा-महाराजाओं के वर्ग को बनाए रखा था, नव शिक्षित मध्यम वर्ग का जन्म हो चुका था और वह जीर्ण-शीर्ण परंपराओं का ध्वंश और नवीन परंपराओं के निर्माणार्थ अपने जीवन की बलि चढ़ाने तक के लिए प्रस्तुत था ।"[43]

वास्तव में यह समय भारतीय इतिहास के लिए अत्यंत कठिन समय था । ऐसे समय को किसी कृति में बाँध पाना बड़ा दुष्कर कार्य होता है । भगवती बाबू ने भी कोशिश तो की, पर अपेक्षित सफलता नहीं मिल सकी । अपनी लंबी उद्भावना में समीक्षक ने उसकी कमियों को विस्तार से उद्धृत किया है । हम यहाँ केवल उसके मुख्य अंश को उद्धृत कर रहे हैं- "सच तो यह है कि उपन्यास में राजनीति तथा अन्य विषय तो प्रासंगिक रूप से आए हैं और जितने अंश में वे आए हैं उतने में भी अपनी संपूर्ण चेतना लेकर नहीं आये । उपन्यास का मूल दृष्टिकोण वही है जो उनके पिछले उपन्यास दुहराते रहे हैं- नियति का विधान एक अजीब ढंग से चल रहा है, और वह इसी तरह इस अजीब ढंग से चलेगा भी । इस दुनिया में जीवित वह रह सकता है जो समर्थ है । और आगे व्यक्ति की आधारभूत प्रवृत्तियाँ विशेष परिस्थितियों में उभरेंगी ही, उभारने के लिए यदि तुम साधन न बने होते तो कोई दूसरा साधन बन गया होता । आदमी कुछ नहीं करता, जो कुछ कराती है, परिस्थितियाँ कराती हैं ।"

निश्चित रूप से यह नियतिवाद उपन्यास की सीमा बन गया है । जब लेखक इसी तरह अपने आग्रह-दुराग्रह को थोप देगा और उसी पर कथा से लेकर

चरित्रों तक का निर्माण होगा तो यह सर्वथा स्पष्ट है कि इससे कृति क्षत-विक्षत होगी । उपन्यास को जब आधुनिक युग का महाकाव्य कहा गया तो इसका कारण यही था कि वह युग के जीवन यथार्थ को व्यक्त करने का सबसे प्रबल माध्यम था । नियति और परिस्थिति को इतनी महत्ता इस उपन्यास को निसंदेह कमजोर करती है ।

दूसरी आपत्ति भगवती बाबू के बुद्धिवादी को लेकर है । उनका विश्वास है कि बुद्धि का विकास मानवता का चरम विकास है ।[45] कथा-संगठन की दृष्टि से वे रोमांटिक यथार्थवाद का आश्रय लेते हुए उसे प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने में सिद्धहस्तता प्रकट की है । पर प्रेमचंद की ही तरह उनमें स्थूलत्व है, मनोवैज्ञानिक गहराई नहीं ।[46]

निष्कर्ष यह कि कथा और चरित्र निर्मीत तथा सामंती परिवारों के तनाव में वे सफल हैं पर जिस जीवन-दर्शन को वे उठाए हैं उससे सहमति के सूत्र नहीं मिलते । उपन्यास में चरित्रों की गहराई का पता नहीं है । "विवेचना" की गोष्ठी में भी इस बात को लेकर असहमति दिखाई दी । केवल बालकृष्ण राव ने इस उपन्यास को सफल बताया । लेकिन यह उन्होंने भी स्वीकार किया कि वे नवयुग के संदेश को यथार्थ बनाकर नहीं दिखा पाते ।[47]

§"माध्यम", विवेचना, अप्रैल-1967§ "सागर लहरें और मनुष्य" उदयशंकर भट्ट का उपन्यास है, जिस पर प्रेमशंकर ने समीक्षा प्रस्तुत की है । ज्ञातव्य है कि यह उपन्यास बंबई तट पर बसे बरसोवा के मछलीमारों की कथा पर आधारित है । उपन्यास के कथानक पर विचार करते हुए प्रेमशंकर ने लिखा है- "उपन्यास में भट्ट जी ने सर्वाधिक ध्यान कथाचक्र पर केंद्रित रखा है और इसे हम कथानक-आग्रही कृति कह सकते हैं । बरसोवा ग्राम से आरंभ होकर यह कथाचक्र बंबई तक भटकता है और अनेक बार इसमें इतने आकस्मिक मोड़ आते हैं कि कथा की दिशा ही बदल जाती है ।"[48]

समीक्षक की यह राय निश्चित रूप से वाजिब है । कथाचक्र निसंदेह बरसोवा पर ज्यादा जमा है और इसमें आश्चर्यजनक ढंग से आकस्मिक मोड़ पर आते रहते हैं । अगर समीक्षक के इस कथन को लेखक पर आरोप समझा जाये तो आगे अपने ही कथन से समीक्षक इसका जवाब देता है- "यदि भट्ट जी ने कथानक को इतना घटना-बहुल न बनाया होता तो संभव था, साधारण पाठकों के लिए उसकी रोचकता का कुछ अंश कम हो जाता ।"[49] इस समीक्षा में चूंकि समीक्षक का सारा ध्यान उपन्यास के कला-विन्यास पर केन्द्रित है इसलिए वह विस्तार से विन्यास पर केन्द्रित है इसलिए वह विस्तार से इन्हीं पर बात कर सका है । शिल्प पर राय देते हुए उसका कथन है- "यह उपन्यास किसी को नायकत्व देने के यत्न में कथा को उसी के अनुसार मोड़ने का उपक्रम नहीं करता और इस दृष्टि से उसमें आधुनिक शिल्प का प्रवेश अनायास हो गया है ।"[50] भाषा के स्तर पर भी समीक्षक की राय सकारात्मक है । लेकिन समीक्षक ने दुर्योग से उपन्यास के मंतव्यों, अंत: संघर्षों तथा जीवन-यथार्थ की स्थितियों पर विचार ही नहीं किया है । गोष्ठी में प्रकारांतर से प्रेमशंकर की समीक्षा से सहमति जताई गयी । केवल शहर और गांव के चित्रण तथा आंचलिकता के प्रश्न पर बहस से उपन्यास की आंतरिकता के पक्ष नदारद रहे ।[51]

("माध्यम", विवेचना, दिसम्बर-1967) उपन्यासों की विवेचना की अंतिम कड़ी के रूप में लक्ष्मीकांत वर्मा के उपन्यास "एक कटी हुई जिंदगी: एक कटा हुआ कागज" पर चर्चा हुई जिस पर गंगा प्रसाद विमल ने अपनी समीक्षा पढ़ी । विमल की समीक्षा संरचना पर एकाग्र है । लेकिन शुरू के पृष्ठों से बात बहुत स्पष्ट नहीं होती । समीक्षक अच्छी-बुरी दोनों बातें करने का आदी हो गया लगता है । कहीं वह उसमें प्रतीकों की बात उठाता है, कहीं बिंबों की, कहीं उसे कथानक में असंगति दिखाई देती है तो कहीं संगति । एक बात यह कि "यह उपन्यास एक आत्म केंद्रित व्यक्ति की गाथा लगता है ।"[52] समीक्षक कृति पर इससे अधिक कुछ और नहीं कह पाता । एक स्थल पर "बात ही बात में उसने यह कहा है कि लेखक ने इसे संप्रेषणीय नहीं बनाया है ।"[53]

गोष्ठी में वे बेशक कह पाए हैं कि इसमें चित्रकला विधि है, कविता पर आधारित उपन्यास है ।[54] कुछ लोगों ने विमल के परचे पर आपत्ति उठायी ।

§"माध्यम", जुलाई 1965§ निर्मल वर्मा की दो कथाकृतियों पर भी "विवेचना" में विचार हुआ है । इसमें पहली कृति कहानी संग्रह है-"जलती झाड़ी" और दूसरी, उपन्यास है- "वे दिन" । इन दोनों कृतियों पर एक ही समीक्षा है जिसे शिव प्रसाद सिंह ने लिखी है । उन्होंने बड़े अटपटे ढंग से कहानी और उपन्यास की तुलना करते हुए समीक्षा की है, जिसमें चीजें साफ होने की जगह उलझ गई हैं । अत: यहाँ हम दोनों पर उनकी राय को अलग-अलग देखेंगे ।

"वे दिन" पर समीक्षक का कथन है- ""वे दिन" का वाचक "मैं" कामू के शब्दों में कहूँ तो निर्मल वर्मा हैं ।"[55] रायना से इसी "मैं" के संपर्क का उपन्यास है "वे दिन" जिसे निर्मल वर्मा स्मृतियों के सहारे लिखते हैं । दूसरी जगह समीक्षक इसे "पिकनिक प्रेम कथा" मानता है और कहता है कि इसी के विशिष्ट स्थलों, स्मृतियों आदि के कारण यह आकर्षक हो गया है ।[56] शेष बातों को छोड़कर केवल समीक्षक के इस कथन में नयापन है- "निर्मल वर्मा की रचनाओं की मुख्य प्रवृत्ति रूमानी आउट साइडर की है, यद्यपि उसे उन्होंने पश्चिमी जीवन से संपृक्त अभिव्यक्तियों के अनुकरण के बल पर काफी आधुनिक बनाने का भी प्रयत्न किया है ।"[57]

"जाली झाड़ी" की पाँचों कहानियाँ इसी भावभूमि पर आधारित हैं, ऐसा समीक्षक का मानना है । शेष कहानियों में समीक्षक को "लंदन की एक रात" पसंद आई है जिसमें निर्मल वर्मा ने आतंक के वास्तविक रूप को लिया है ।[58] अस्तित्ववाद के प्रश्न पर विचार करते हुए समीक्षक का स्पष्ट कथन है-"अस्तित्व-वाद से जुड़ा एक और प्रश्न रहा है, जिसकी साहित्य में बराबर चर्चा होती रही है, वह प्रश्न है- मृत्यु का । निर्मल ने भी मौत, आत्महत्या आदि पर विचार किया है । "कुत्ते की मौत" इस प्रश्न की ओर संकेत करती है ।[59]

§"माध्यम", जनवरी 1968§ इस प्रकार इस पर ज्यादा बात न कर हम शिवप्रसाद सिंह की ही दूसरी समीक्षा पर दृष्टपात करें जो कथा-आलोचना से संबंधित "विवेचना" की अंतिम समीक्षा है । इस बार एक ही पीढ़ी के दो कथाकार अपने कथा-संग्रहों के माध्यम से आमने-सामने हैं । इनमें एक हैं- मोहन राकेश "फौलाद का आकाश" के माध्यम से तथा दूसरे हैं कमलेश्वर "मांस का दरिया" के माध्यम से । शिवप्रसाद सिंह ने यहाँ भी तुलना की जो नीति अख़्तियार की है, वह ठीक नहीं लगती । शिवप्रसाद सिंह की आलोचना दृष्टि निकसित नहीं है, इसलिए उनकी समीक्षा पद्धति कृति को समझने में ही रूकावट डालती है । इसका उदाहरण यही समीक्षा है । उन्होंने आरंभ में ही यह घोषणा कर दी है कि "मांस का दरिया" की बारह और "फौलाद का आकाश" की नौ कहानियों में से कई में परिवेशगत और विचारगत समानता है किन्तु यह समानता उस तरह की नहीं है, जैसी इधर के अति नवीन अनेक कहानीकारों की अनेक कहानियों में स्वयं प्रकाशित रूप में उभरकर दिखाई पड़ती है ।[60]

दोनों कहानीकारों की तुलना करते हुए उनका कहना है- "कमलेश्वर की अपेक्षा राकेश की कहानियों में नगर-जीवन के अमरी स्तर का आग्रह ज्यादा प्रबल है जबकि कमलेश्वर की आत्मा में अब भी बंबई और दिल्ली के लंबे प्रवास के बाद भी "क़स्बे का आदमी" ही बसा हुआ है ।[61] वहीं युगबोध के स्तर पर वे दोनों को एक जगह पाते हैं और दोनों के उदाहरण देते हैं - कमलेश्वर की कहानी "अमर उठता हुआ मकान" और राकेश की कहानी "जंगला" एक ही युगबोध की कहानियाँ है ।[62] लेकिन यह युगबोध क्या है, इस पर भी तो दृष्टि पड़नी चाहिए । यह युगबोध है-स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद नवयुवकों का सत्ता से मोह भंग का । नए और पुराने के संघर्ष में जीवन को समेटकर इन कहानीकारों ने इसी युगबोध को स्वर दिया है । इसी तरह समीक्षक ने आगे कमलेश्वर और राकेश की क्रमशः "तलाश" और "ग्लासटैंक" में भी समानता खोजी है ।

एक नई बात जो इन दोनों कहानीकारों में मिलती है, वह है- पति-पत्नी के बीच तनाव और अंत में तलाक । लेकिन समीक्षक यह कहकर उसे कृत्रिम मानता है कि ऐसी चीजें अखबारों के लायक भले हों, कहानी के लिए नहीं ।[63] वैचारिकता दोनों कहानीकारों की भिन्न है, ऐसा समीक्षक का मानना है । कमलेश्वर में जनवादी रूझान है तो राकेश में नहीं । शिल्प के स्तर पर राकेश को वह "नाजुक अँगुलियों का सशक्त हस्ताक्षर" और कमलेश्वर को "स्वप्नजीवी मासूमियत से बना व्यक्तित्व" मानता है । दोनों की इस विशेषता को वह उनकी भाषा में देखता है ।[64]

इस प्रकार शिवप्रसाद सिंह ने दोनों कहानीकारों पर अपनी बात को फैलाने के बावजूद रचना-प्रक्रिया की दूसरी ज़रूरी बातें और दृष्टि के विस्तार तक के तथ्यों पर नहीं जा सके । दो कृतियों के सामने होने से भटकाव की आशंका होती है, शिवप्रसाद सिंह के साथ यह हुआ ।

इस तरह हमने देखा कि "विवेचना" में कथा-आलोचना की भाषा से लेकर रचना की आंतरिकता तक को उद्घाटित कर पाने की कोशिशें हुई । इन कोशिशों में देवी शंकर अवस्थी, नेमिचंद्र जैन, रामस्वरूप चतुर्वेदी, इलाचंद्र जोशी, इंद्रनाथ मदान, रघुवंश, शिवप्रसाद सिंह, प्रेमशंकर तथा गंगा प्रसाद विमल ने भागीदारी की । इन समीक्षकों की अपनी अलग दृष्टियाँ रही हैं जो रचना को उसकी निर्मिति में देखने की पहल करती हैं । व्यक्तिगत राग-द्वेष और रचना की प्रसिद्धि आदि से अलग ये दृष्टियाँ पहली बार कथा-आलोचना को इस स्तर पर समृद्ध करती हैं कि संरचना, चरित्र और संवेदना के विविध पहलुओं पर रचना की बारीक पर्यवेक्षणा संभव होती है । "चारू चंद्रलेख" की समीक्षा में देवीशंकर अवस्थी, "यह पथ बंधु था" में नेमिचंद्र जैन, "अपने-अपने अजनबी" में रामस्वरूप चतुर्वेदी, "अंधेरे बंद कमरे में" इलाचंद्र जोशी, "झूठा-सच" में इन्द्रनाथ मदान ने जहाँ समीक्षित कृतियों को सर्वांग समीक्षा करके रचना की अंतर्वस्तु की, उसके शिल्प के रचाव की सूक्ष्म पड़ताल की है, वहीं "बूंद और समुद्र" में रघुवंश, "भूले बिसरे चित्र" में लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, "सागर, लहरें और मनुष्य" में प्रेमशंकर आदि ने रचना की अंतर्वस्तु और जीवन-यथार्थ से उसके

सरोकारों को तलाशा । इस तरह यह अध्याय हिन्दी की कथा-आलोचना में कई नई बातों के उद्‌घाटन का साक्षी है ।

****

संदर्भ सूची

1. माध्यम, मई 1964, पृष्ठ 79
2. वही, पृष्ठ 80
3. वही, पृष्ठ 80
4. वही, पृष्ठ 86
5. वही, पृष्ठ 87
6. वही, पृष्ठ 88
7. माध्यम, अगस्त 1964, पृष्ठ 80
8. वही, पृष्ठ 82
9. वही, पृष्ठ 83
10. वही, पृष्ठ 85
11. वही, पृष्ठ 105
12. वही, पृष्ठ 106
13. माध्यम, अक्तूबर 1964, पृष्ठ 83
14. वही, पृष्ठ 86
15. वही, पृष्ठ 89
16. वही, पृष्ठ 91
17. माध्यम, फरवरी 1965, पृष्ठ 73

18. माध्यम, फ़रवरी 1965, पृष्ठ 74

19. वही, पृष्ठ 75

20. वही, पृष्ठ 76 - 77

21. वही, पृष्ठ 81

22. माध्यम, दिसम्बर 1964, पृष्ठ 68

23. वही, पृष्ठ 69

24. वही, पृष्ठ 70

25. वही, पृष्ठ 74

26. वही, पृष्ठ 76

27. वही, पृष्ठ 77

28. वही, पृष्ठ 78-80

29. माध्यम, नवम्बर 1965, पृष्ठ 74

30. वही, पृष्ठ 77

31. वही, पृष्ठ 77

32. वही, पृष्ठ 78

33. वही, पृष्ठ 80

34. वही, पृष्ठ 81

35. वही, पृष्ठ 82

36. माध्यम, मई 1965, पृष्ठ 103

37. वही, पृष्ठ 104

38. वही, पृष्ठ 105

39. वही, पृष्ठ 109

40. वही, पृष्ठ 110

41. माध्यम, मई 1965, पृष्ठ 111 - 113

42. माध्यम, अक्तबर 1965, पृष्ठ 81

43. वही, पृष्ठ 83

44. वही, पृष्ठ 85

45. वही, पृष्ठ 86

46. वही, पृष्ठ 88

47. वही, पृष्ठ 93 - 95

48. माध्यम, अप्रैल 1964, पृष्ठ 88

49. वही, पृष्ठ 89

50. वही, पृष्ठ 91

51. वही, पृष्ठ 94-95

52. माध्यम, दिसम्बर 1967, पृष्ठ 62

53. वही, पृष्ठ 66

54. वही, पृष्ठ 69

55. वही, पृष्ठ 71

56. माध्यम, जुलाई 1965, पृष्ठ 76

57. वही पृष्ठ 77

58. वही, पृष्ठ 81

59. वही, पृष्ठ 83

60. वही, पृष्ठ 83

61. माध्यम, जनवरी 1968, पृष्ठ 59

62. वही, पृष्ठ 60

63. वही, पृष्ठ 60

64. वही, पृष्ठ 64

65. वही, पृष्ठ 65

चतुर्थ अध्याय

विचार की आलोचना और विवेचना

"विचार की आलोचना और विवेचना"

अब तक हमने "विवेचना" का महत्व, कविता तथा कथा-साहित्य की आलोचना में "विवेचना" की मुख्य उपलब्धियों का संकेत किया है और यह देखने की कोशिश की है कि इसने वस्तुत: हिन्दी आलोचना को क्या क्या दिया है । इस अध्याय में हम उन कृतियों पर पढ़े गए निबंधों को देखेंगे जो कृतियाँ न तो शुद्ध आलोचनात्मक हैं और न ही सर्जनात्मक । ये कृतियाँ अपने मूल स्वरूप में लेखकों के विचार का प्रतिनिधित्व करती हैं । इस स्तर पर इस अध्याय में विचारों की आलोचना में "विवेचना" की भूमिका को रेखांकित करना हमारा अभीष्ट होगा । इस क्रम में हमारे समक्ष दर्शन, काव्यशास्त्र और साहित्य सर्जना पर विचार के अतिरिक्त हिन्दी आलोचना की चुनौतियाँ तथा "विवेचना" में कृतियों के मूल्यांकन के तौर-तरीकों पर पढ़े गए निबंध भी शामिल हैं ।

("माध्यम", विवेचना जून 1964) इस श्रृंखला में पहली पुस्तक है- "समय और हम" । यह कथाकार जैनेन्द्र की दार्शनिक मान्यताओं की कृति है जो वीरेन्द्र कुमार गुप्त के साढ़े चार सौ प्रश्नों के उत्तर में लिखी गई हैं । इस पर अपनी समीक्षा में हर्ष नारायण ने जैनेन्द्र के कथन को उद्धृत कर टिप्पणियों की शुरूआत की है- "वे ईश्वर के सिवा कुछ भी नहीं" मान पाते, उनकी दृष्टि में प्रकृति अथवा मैटर अनीश्वर नहीं है, उन्हें "सब होने के अखंड स्वरूप को ईश्वर" मानने का आग्रह है । उनकी दृष्टि में "सब वाद ईश्वर को ही पाने और देने की कोशिश में बने हैं ।" हर मान्यता

ईश्वर का एक रूप है, हर दर्शन, हर वाद और हर धर्म उस तक पहुंचने में सक्षम हैं । उनकी कृति में हर समस्या पर निर्णय दिया गया है । उन्हें कोई संशय नहीं, विप्रतिपत्ति नहीं, विचिकित्सा नहीं । शैली का तेवर ऐसा कि जैसे लेखक को सब कुछ हस्तामलकवत हो । वे घुमा-फिराकर मानसिक प्रतिबंधों के साथ बात करने के आदी जान पड़ते हैं ।"[1]

आलेख की शुरूआत में ही हर्ष नारायण ने जैनेन्द्र की ईश्वरीय अवधारणा का तीखा विरोध किया है और सब कुछ को ईश्वर को ही देने-पाने की उद्-घोषणा का खंडन किया है । लेकिन यह विचित्र लगता है कि समीक्षक में आश्चर्यजनक ढंग से और यूँ ही पश्चिम को गाली देने की बीमारी घर कर गई है । उसे जैनेन्द्र की खामियाँ गिनानीं चाहिए, और जब जैनेन्द्र का कथन पश्चिम से प्रभावित जान पड़े तब कोसना चाहिए । पर जैनेन्द्र की शुद्ध भारतीय (या एक सीमा तक वैयक्तिक) धारणा पर समीक्षक की यह टिप्पणी बेतुकी जान पड़ती है- "आजकल कोई दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, राजशास्त्र, कामशास्त्र आदि से सम्बद्ध चाहे जिस चिंताधारा से प्रभावित हो, उसे कदम-कदम पर पश्चिम का ऋणी होना पड़ेगा । अत्युक्ति से भगवान बचाए, राममोहन राय, विवेकानंद, गांधी, टैगोर, अरविंद और राधाकृष्णन् जैसे भारतीयों को भी अंतिम विश्लेषण से पश्चिम की ही पैदावार समझनी चाहिए ।"[2]

जब जैनेन्द्र यह कहते हैं कि " ह्रासोन्मुख संस्कृति की शायद सबसे बड़ी पहचान उसकी असहिष्णुता और आत्मतुष्टि की भावना, समन्वय के प्रयत्नों के कई रूप देखने को मिलते हैं । रामकृष्ण परमहंस थियोसौफ़िकल सोसायटी, गांधी और भगवान दास की दृष्टि में सभी धर्म तत्वत: एक और समान रूप से प्रामाणिक हैं, सत्य हैं और भारतीय दर्शन के विविध प्रस्थापन परस्पर विरोधी नहीं अपितु उस विकास-प्रक्रिया के विभिन्न सोपान है जिसका पर्यवसान अद्वैत में होता है,"[3] तो इस जगह समीक्षक कुछ भी बोलना उचित नहीं मानता; गोया वह विचारों को उद्धृत कर केवल अप्रासंगिक आरोप ही लगाने बैठ गया हो । उसके लिए तो शिकायत का विषय जैनेन्द्र की सतही प्रस्तुति है । कथन है- "इस कृति की आधारभूत स्थापनाएँ इतने ढीले-ढाले और सतही अंदाज में प्रस्तुत की गई हैं कि या तो पाठक उनसे सहमत-असहमत होने के

लिए उत्तेजित नहीं हो पाता या उनके अत्यंत घिसी-पिटी या सामान्य होने के कारण सहमत-असहमत होने का प्रश्न ही नहीं उठता ।"[4] और इसी क्रम में एक और आपत्ति यह कि उनकी ढीली-ढाली शैली की यह दशा है कि वे अपनी सर्वाधिक मूलगामी मान्यता ईश्वर या ब्रह्म के विषय में भी स्पष्टोक्ति से काम नहीं लेते ।"[5]

यह बड़ी अटपटा लगता है कि समीक्षक को सामान्य प्रश्नोत्तर में वक्रोक्ति और व्यंजक अभिव्यक्ति की अपेक्षा क्यों होने लगी । बातचीत में तो बहुत सामान्य अंदाज की ही आवश्यकता होती है । जहाँ तक उनके उत्तेजक होने का प्रश्न है तो यह प्रतिपाद्य विवेचन पर निर्भर होता है, फिर जो मान्यता सर्वमान्य हो (भारतीय परंपरा में तो ऐसा ही है) उसमें असहमत होते हुए भी सहमति के संकेत होते हैं । रही बात यह कि वे अपनी मूल मान्यता को भी सफाई से नहीं कहते, स्वयं समीक्षक की अन्तर्विरोधिता को दर्शाती है । ईश्वर की मान्यता बहुत सहज भी है और जटिल भी । यह लेखकीय ढंग है, लेखकीय कमजोरी नहीं । प्रतिपाद्य से विरोध होता तो तर्क की ज़रूरत पड़ती ।

फिर कृति विचार प्रधान है, प्रश्नकर्ता जैनेंद्र के प्रति श्रद्धा भाव रखता है, जैनेन्द्र कोई नई बात नहीं कहते, वे चीज़ों को बहुत हल्के ढंग से लेते हैं,[6] आदि का हवाला देकर वे निष्कर्ष देते हैं कि इतनी भारी भरकम पोथी में वर्तमान सांस्कृतिक मूल्यों के संकट पर कोई चर्चा नहीं है और जहाँ यह कृति समग्रता में हमें प्रभावित नहीं करती, वहीं स्फुट विचारों के कारण प्रभावित करती है,[7] कुछ अटपटा लगता है । यहाँ कुल मिलाकर बहुत सामान्य रूप से यह सब कह दिया गया है ।

"विवेचना" की गोष्ठी और भी निराशाजनक रही । रघुवंश ने उन्हें दार्शनिक न मानकर साहित्यकार ही मानने की सलाह दी, तो रामस्वरूप चतुर्वेदी ने "समय और हम" को "सर्जनात्मक चिंतन" की विधा ही स्वीकार ली । सुमित्रानंदन पंत ने उन्हें दार्शनिक न मानकर विचारक माना, तो बालकृष्ण राव ने इस कृति को भ्रमजाल कहा ।[8] आशय यह कि सारे विद्वान अपने ही वाद विवाद में उलझे रहे, कृति की प्रतिपाद्यता और उसकी कमजोरियों पर चर्चा

आगे नहीं बढ़ी ।

§"माध्यम", विवेचना नवम्बर 1964§ मुक्तिबोध की "एक साहित्यिक की डायरी" पर अपने निबंध में नामवर सिंह ने शुरूआत में ही कहा- "कुछ लोग दुनिया से बहस करते हैं तो कुछ सिर्फ़ अपने से, किंतु कुछ थोड़े से लोग ऐसे भी होते हैं जो दुनिया से बहस करने की प्रक्रिया में अपने आप से भी बहस चालू रखते हैं । मुक्तिबोध ऐसे ही थोड़े से लोगों में से थे और उनकी "एक साहित्यिक की डायरी" ऐसी ही जीवंत बहस का सर्जनात्मक दस्तावेज़ है जिसमें भाग लेने का लोभ संवरण करना कठिन है, यह अपनापा संक्रामक है-स्वयं से अस्वयं होना है ।"[8]

कहना न होगा कि समीक्षक ने प्रारंभ में ही कृतिकार को महत्वपूर्ण घोषित करते हुए यह स्वीकार किया है कि यह कृति "जीवंत बहस का सर्जनात्मक दस्तावेज़" है । इस क्रम में कृति की विशेषताएँ बताते हुए समीक्षक की उक्ति है- "लेखक की पारदर्शी ईमानदारी ही है कि यह कृति अनूठा आकर्षण प्रदान करती है जिसे लेखक ने "सुकुमार ज्वालाग्राही जादुई शक्ति" कहा है । मस्तिष्क की हर हरकत हम साफ़ देखते हैं, जैसे शीशे के अंदर पारे की लकीर हो । ईमानदारी इस हद तक की कि युक्तियों में स्वयं पकड लिए जाने को भी सहर्ष प्रस्तुत और निरस्त्र कर देने वाला खुलापन । ऐसा खुलापन जिसमें खोने के लिए कुछ भी न हो सिवा किसी कमी के और पाने के लिए सब कुछ हो, जैसे आत्म-प्रत्यय ।"[10]

अपने कथन को नामवर सिंह ने पुष्ट करने के लिए मुक्तिबोध के इस कथन को उद्धृत किया है- §इसे लेखक ने अपने किसी सहचर के बारे में लिखा था§ "दरअसल, उसके लिए न वे विचार थे न अनुभूति । वे उसके मानसिक भूगोल के पहाड़, चट्टान, खाइयाँ, ज़मीन, नदियाँ, झरने, जंगल और रेगिस्तान थे । मुझे यह भान होता रहता कि वह व्यक्ति अपने को प्रकट करते समय, स्वयं की सभी इंद्रिय शक्तियों से काम लेते हुए एक आंतरिक यात्रा कर रहा है, वह अपने विचारों या भावों को केवल प्रकट ही नहीं करता था, वह उन्हें स्पर्श करता

था, सूंघता था, उनका आकार-प्रकार, रंग-रूप और गति बना सकता था, मानों उसके सामने वे प्रकट, साक्षात और जीवंत हों । उसका दिमाग़ लोहे का एक शिकंजा था या सुनार की एक छोटी सी चिमटी, जो बारीक़ से बारीक़ और बड़ी से बड़ी बात की सूक्ष्म रूप से और मज़बूती से पकड़कर सामने रख देती है ।"[11]

निश्चित रूप से यहाँ मुक्तिबोध ने बहुत गहरी बात को भी निहायत ईमानदारी और सादगी से विचार-विमर्श करने के अंदाज़ में प्रस्तुत किया है । इस प्रस्तुति की ख़ूबी यह है कि यह एक सत्यान्वेषी की तरह संभव तथ्यों को परखते हुए, रूकते हुए और जाँचते हुए प्रस्तुत हुई । यह लेखक के गद्य का अलग और विशिष्ट स्वर है ।[12] इस लेखन की प्रेरणा पर प्रकाश डालते हुए समीक्षक का स्पष्ट कथन है कि इसके पीछे जीवन की प्रक्रिया है । जो व्यक्ति एक साधारण आदमी की तरह अपने आसपास के सामाजिक परिवेश में हिस्सा लेता है और हर परिचित-अपरिचित को सहचर की तरह स्वीकार करते हुए उन्मुक्त विचार विनिमय के लिए प्रस्तुत रहता है उसी के लेखन में भी संप्रेषण और संभाषण का यह गुण आता है ।[12]

इस तरह समीक्षक की राय में यह कृति सामाजिक जीवन-प्रक्रिया की उपज है । यह संवादी डायरी "सहयोगी प्रयास" का आभास ही नहीं देती, बल्कि सहयोगी प्रयास वस्तुत: है और ऐसे प्रयास के लिए सीधा निमन्त्रण भी । कहना न होगा कि मुक्तिबोध विलक्षण कवि होने के साथ-साथ उत्कृष्ट साहित्य-चिंतक भी थे । उनकी यह कृति उन्हीं चिंतनों की उपज है जिसमें वे साहित्य के गुणावगुण तथा साहित्यकारों के कर्त्तव्य को इंगित करते हैं । नामवर सिंह ने अपनी समीक्षा में मुक्तिबोध के लेखन की नाटकीय विन्यस्तता को कई स्थलों पर रेखांकित किया है । कविता से लेकर विचार-प्रक्रिया की इस सीमा तक उनमें नाटकीय विन्यास मिलता है । एक जगह वे यह कहते हैं कि एक तरह से मुक्तिबोध का संपूर्ण कृतित्व एक विशाल नाटक के समान प्रतीत होता है जिसके बीच यदि कविताएँ गीतात्मक संदर्भों को व्यक्त करती हैं तो

"डायरी" गद्यात्मक संवादों की पूर्ति करती है ।[13]

मुक्तिबोध के लेखन की यह विशेषता भी है कि उसकी संघटना में "फैंटेसी" का इस्तेमाल होता चलता है । इस प्रसंग पर लिखते हुए समीक्षक का कथन है- " यद्यपि प्रस्तुत रूप में प्रकाशित करते समय डायरी के खंडों में यादृच्छिक ढंग से क्रम-विपर्यय कर दिया गया है और कुछ अंश छुट भी गए हैं तथापि इस विपर्यस्त और खंडित रूप में भी "डायरी" को ध्यान से देखें तो इसका विन्यास भी मुक्तिबोध की कविताओं की संघटना जैसी ही पाएंगे । हर डायरी कविता की ही भाँति एक "फैंटेसी" के रूप में परिकल्पित की गई है जिसमें भाव और विचार मूर्त स्थितियों-वस्तुओं व्यक्तियों आदि के समूचे जीवंत संदर्भ के साथ उभरते चले जाते हैं । वही पर्सपेक्टिव और वही स्ट्रक्चर ।"[14]

इस तरह नामवर सिंह ने "डायरी" की आंतरिकता को पहचानते हुए मुक्तिबोध के कृति-व्यक्तित्व को उद्घाटित किया है । इस समीक्षा की एक विलक्षण बात यह है कि समीक्षक ने "डायरी" की समीक्षा के माध्यम से संक्षिप्त ही सही, मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया की आंतरिक निर्मिति को खोलने और सार्वजनिक करने की सफल कोशिश की है ।

अपने निष्कर्ष में समीक्षक ने "डायरी" की तुलना प्लेटो के "डायलॉग्स" से करते हुए कहा है- "जिस तरह प्लेटो के "डायलॉग्स" की सबसे बड़ी उपलब्धि "सुकरात" जैसा व्यक्तित्व है, उसी तरह एक-दूसरे स्तर पर मुक्तिबोध की डायरी की सबसे बड़ी उपलब्धि "एक कवि-व्यक्तित्व" है जिसके साथ आगे चलकर अनेक प्रकार की किंवदंतियों के जुड़ जाने की सारी संभावनाएँ मौजूद हैं । अनिवार्यतः यह व्यक्तित्व स्वयं मुक्तिबोध का ही हो, कोई आवश्यक नहीं, किंतु है यह निश्चय ही इस आत्म सजग युग का सबसे आत्मसजग व्यक्तित्व ।"[15] इसी कड़ी में आगे नामवर सिंह ने मुक्तिबोध की तुलना अज्ञेय (आत्मनेपद का संदर्भ लेकर) करते हुए जहाँ मुक्तिबोध की जीवन की जटिलता से संपृक्ति को प्रशंसनीय मानते हैं, वहीं अज्ञेय की सौंदर्यजीवी और सामाजिक

जीवन के प्रति अनासक्ति को कोसते हैं ।

स्वभावत: इन दोनों व्यक्तियों की अपनी धारणाएँ परस्पर-भिन्न हैं । एक के लिए समाज की संपृक्ति जायज़ है तो दूसरे के लिए समाज का तिरस्कार । दोनों की सोच के दो स्तर हैं । पर जहाँ कहीं भी सामाजिक संपृक्ति के साथ-साथ रचना की निर्मिति की बात आएगी मुक्तिबोध हमें सबसे ज्यादा विश्वसनीय लगेंगे । लेकिन यह प्रश्न फिर भी अपनी जगह स्थिर है कि क्या रचना-कर्म के लिए इस दोहरी जवाबदेही का धर्म निभाना अनिवार्य है ?

आलोचक नामवर सिंह की इस आलोचना में जो तीन-चार मुख्य बातें मुक्तिबोध की इस कृति से उभरकर सामने आती हैं, उन संक्षिप्त दृष्टिपात आवश्यक है । यहाँ पहले मुख्य स्थापनाओं को देखा जाये । नामवर सिंह ने लिखा है कि"डायरी" में कविता पर विचार करने से अधिक कवि-व्यक्तित्व के स्वरूप पर विचार किया गया है । इसी से स्पष्ट है कि मुक्तिबोध आज की स्थिति में कविता की परिभाषा करने से अधिक आवश्यक समझते हैं- कवि-व्यक्तित्व का निर्माण ।[16] आगे डॉ0 सिंह ने कहा हैकि जिन लोगों का दावा है कि नई कविता के "नये कवि एक अरसे से व्यक्तित्व की खोज में संलग्न हैं, उन्हें इस चुनौती के सामने आकर ईमानदारी से बतलाना चाहिये कि वह "मानव" कहाँ है तथा उस व्यक्तित्व का रूप क्या है ?[17] फिर आगे यह कि यह कृति हिन्दी में "आधुनिक भाव"बोध के अधूरे चित्र को पूरा करने की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास है ।[18] और आखिरी ये कि यह भ्रम फैलाना निरर्थक है कि यह कृति रचना-प्रक्रिया की पाठ्य पुस्तक है ।[19]

इस बात में कोई संदेह नहीं कि बगैर कवि-व्यक्तित्व के निर्माण के कविता होना तो संभव है, पर उसमें सामाजिक सरोकारों की गहराई मुश्किल है । पर मुक्तिबोध की चुनौती से ज्यादा नामवर सिंह की चुनौती महज़ आक्रोश

है कि नए कवियों ने जिस नए मानव की प्रतिष्ठा की है, वह "मानव" कहाँ है । यह चुनौती नकारवादी है । ख़ामियाँ तो हर जगह होती हैं, पर उनमें ख़ूबियाँ भी होती हैं । नई कविता के उद्भावकों की यह घोषणा लिजलिजी हो सकती है, पर नई कविता को बिल्कुल ग़ैर जिम्मेदाराना मानना भी कोई तर्क नहीं । साहित्य में मूल्यों की प्रतिष्ठा कोई ठोस व्यक्ति तक सीमित नहीं होती, वरन् वह सामाजिक संघातो की आंतरिकता में होती है । इस स्तर पर नई कविता ने निश्चित रूप से नए व्यक्ति को कविता का आधार बनाया । स्वयं मुक्तिबोध का कवि भी तो नई कविता का ही कवि है । पर, न तो उनकी इस स्थापना से मतभेद है कि यह कृति हिंदी के आधुनिक भावबोध के अधूरे मानचित्र को पूरा करती है और न इससे कि यह वास्तव में रचना-प्रक्रिया और कवि-कर्म की बारीक पर्यवेक्षणा करने के स्तर पर अनूठी कृति है । अंत में मुक्तिबोध की दो धारणाएँ-जो व्यक्ति साहित्यक दुनिया से जितना दूर रहेगा, उसमें अच्छा साहित्यक बनने की संभावना उतनी ही ज्यादा होगी । साहित्य के लिए साहित्य से निर्वासन आवश्यक है ।"[20] और"साहित्य पर आवश्यकता से अधिक भरोसा करना मूर्खता है, साहित्य मनुष्य के आंशिक साक्षात्कारों की बिंब मलिका भर तैयार कारता है ।"[21]

ये दोनों उद्धरण मुक्तिबोध की इस कृति से उद्धत हैं । इस कथन से ही लेखक की ईमानदारी, अभिव्यक्ति की सफ़ाई, गहरा साहित्यक अध्ययन और सुचिंतित जीवन दृष्टि की झलक मिल जाती है । साहित्य के विशाल फलक पर केवल रचनात्मक विधानों की आवश्यकता ही नहीं होती वरन् ऐसे सुलझे विचारों की आवश्यकता भी होती है जिससे रचनाकारों को भी सीख मिल सके और पाठकों को भी साहित्य की समझ का अहसास हो सके । इस प्रकार यह कृति निसंदेह अमूल्य है और इस पर नामवर सिंह की समीक्षा भी महत्वपूर्ण है जो इस कृति को उसकी संपूर्णता में परीक्षण करती है । कहना न होगा कि यहाँ मुक्तिबोध की सामाजिक प्रतिबद्धता वाली दृष्टि का विस्तार मिलता है जो व्यापक मानवीय सरोकारों से आबद्ध है ।

"विवेचना" की गोष्ठी मुक्तिबोध की इस कृति पर चर्चा न करके श्रद्धांजलि में तब्दील हो गई । इसी दिन दुर्भाग्य से प्रयाग में दिवंगत मुक्तिबोध की अस्थियाँ विसर्जित हुई । सभा में उपस्थित लोगों ने शोक व्यक्त किया और तमाम असहमतियों के बावजूद इस कृति की प्रशंसा की ।[22]

§"माध्यम", विवेचना सितम्बर 1964§ अगली कृति भाषा विज्ञान से संबंधित है- "भाषा और समाज" कृति के लेखक हैं- रामविलास शर्मा । कृति वैसे तो भाषा विज्ञान की है फिर भी वह विचार शून्य नहीं है । कहना तो ये चाहिए कि भाषा संबंधी कृतियों में तो और भी विचारों का आग्रह होता है । "विवेचना" के तहत विद्यानिवास मिश्र से इस कृति पर समीक्षा पढ़वाई गयी जिन्होंने अपनी समीक्षा का प्रारंभ ही डॉ० शर्मा की तीन मुख्य मान्यताओं से किया- "एक तो यह कि भाषा का अध्ययन उनकी ध्वनि प्रकृति, भाव प्रकृति और मूल शब्द भंडार को दृष्टि में रखकर करना चाहिए, दूसरी यह कि भाषा के रूप और उसकी विषयवस्तु पर उन अंतर्विरोधों का प्रभाव पड़ता है, जो सामाजिक विकास के कारण होते हैं, चाहे वे उस समाज के बाहर से उद्भूत हों या उसके भीतर से, और अंतिम यह कि नस्ल और भाषा का समवाय संबंध नहीं है ।"[23]

इस पर विचार देते हुए समीक्षक की अपनी मान्यता है कि पहली और दूसरी मान्यताओं में स्पष्टत: विरोध है । अगर भाषा के अध्ययन का आधार उसकी ध्वनि प्रकृति, भावप्रकृति और मूल शब्द भंडार है तो फिर सामाजिक प्रभाव को प्रमुखता कैसे दी जा सकती है ?[24] समीक्षक के विचार निश्चित रूप से तार्किक हैं । आगे के उनके निष्कर्षों को देखें । समीक्षक तमाम तर्क देता हुआ यहाँ तक आकर उबल पड़ता है- "भाषा की ध्वनि प्रकृति, भाव प्रकृति और मूल शब्द भंडार क्या ये अलग-अलग चीजें हैं ? जैसे किसी एक नस्ल से किसी एक भाषा का सहजात संबंध नहीं हो सकता, उसी तरह किसी एक भाषा किसी भाषा-भाषी जन की कोई एक स्थिर प्रकृति भी नियतभावी नहीं है । फिर वाक् और अर्थ अविभाज्य हैं ।

दूसरी ओर भाव प्रकृति ध्वनिप्रकृति के साथ बदलती है । इसका एक प्रमाण यह है कि विभक्तियों की ध्वनियों के साथ घिसाव के साथ-साथ हिन्दी में संश्लिष्टता समाप्त होकर विश्लिष्टता आई है और रूप की अभिव्यक्ति विभक्ति के योग से न बनकर पूरे पद के योग से होने लगी है ।"[25]

इस कथन में तर्क भी है और वैज्ञानिकता भी । यह बहुत सच है कि भाषा की ध्वनिप्रकृति, भावप्रकृति और मूल शब्द भंडार को विभाजित करके नहीं देखा जा सकता । और फिर यह भी कि इनमें से पहले दो तो एक-दूसरे से अनुस्यूत हैं । डॉ0 शर्मा की दूसरी स्थापना कि भाषा के रूप और उसकी विषयवस्तु पर उन अंतर्विरोधों का प्रभाव पड़ता है जो सामाजिक विकास के कारण होते हैं, पर बहुत लंबी बहस के बाद समीक्षक ने लगभग नकार दिया है । समीक्षक यहाँ दूसरे दृष्टकोण से सोचता है । उसका मानना यह है कि इस मान्यता में आंशिक सच्चाई है, पूर्णत: नहीं । "किसी भी भाषा के रूप और विषयवस्तु पर केवल बात-संघातों का ही प्रभाव पड़ता हो, ऐसा नहीं है । भाषा का परिवर्तक व्यक्ति है, समुदाय इस परिवर्तन को मर्यादित करने वाला यंत्र है । समुदाय परिवर्तन की तीव्रता और एकोन्मुखता पर नियंत्रण रखता है । वह परिवर्तन की प्रक्रिया को एकदम रोक नहीं सकता । स्तालिन कोंस्मस्की के सामाजिक विकास वाले जिस सिद्धांत को डॉ0 शर्मा ने यहाँ लागू किया है, वह तर्क शुद्ध नहीं है ।"[25]

समीक्षक को डॉ0 शर्मा की तीसरी मान्यता से भी असहमति है । मान्यता यह कि नस्ल और भाषा का समवाय संबंध नहीं है । इस मान्यता पर बात करते हुए समीक्षक का यह आग्रह कि लेखक को भारोपीय भाषाओं पर बात करते समय सावधानी बरतनी चाहिए । फिर, भारत का भाषा-क्षेत्र और भी जटिल है, इसे इतनी आसानी से परखना संभव नहीं है । निष्कर्ष यह कि भाषा-परिवार की अपेक्षा व्यावहारिक और अनुभाव्य संबंध की इकाई है, भाषा क्षेत्र । और यह भी कि भारत एक भाषा क्षेत्र है जिसमें बोली जाने वाली भाषाएँ संगठन की अभिव्यक्ति और अर्थवत्ता दोनों ही स्तरों

पर व्यापक समानताएं रखती है और निरंतर एक दूसरे को प्रभावित करती हैं ।[26]

इस प्रसंग पर समीक्षक ने अन्य ढेर सारे तर्कों के आधार पर लेखक की धारणाओं को अस्वीकार किया है । दोनों व्यक्तियों की स्थिति दो विचारधाराओं से नियंत्रित होती है । लेखक जहाँ तक भाषा विज्ञान की मूल मान्यताओं के साथ है, समीक्षक का उससे कोई विरोध नहीं होता । लेकिन जहाँ भी लेखक ने अपने मार्क्सवादी रूझानों के तहत चीज़ों को देखा है, वहाँ समीक्षक आपत्ति करता है । लेकिन एक बात स्पष्ट है कि दोनों एक-दूसरे की रायों को बल प्रदान करते हैं । सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि जब रामविलास शर्मा हिन्दी की स्वतंत्र सत्ता के प्रति निष्ठा जाग्रत करने की बात कहते हैं तो यहाँ समीक्षक को उनसे विरोध नहीं होता । इस स्तर पर समीक्षक की दृष्टि में कृति सफल है ।[27]

"विवेचना" की गोष्ठी में सहमति-असहमति ये कई सूत्र टकराते दिखाई दिए । रामस्वरूप चतुर्वेदी की दृष्टि में रामविलास जी की यह मान्यता जची कि भाषा के रूप और अंतर्वस्तु पर सामाजिक विकास के कारण का प्रभाव पड़ता है ।[28] चर्चा में भाग लेते हुए वेद प्रकाश ने यह दिलचस्प प्रश्न उठाया कि जब डॉ0 शर्मा हिन्दी और उर्दू को एक ही भाषा की दो शैलियाँ मानते है तो फिर उर्दू कवियों की हिन्दी का कवि क्यों नहीं माना जाता ?[29] इस प्रश्न पर डॉ0 शर्मा का बचाव करते हुए विद्यानिवास मिश्र ने कहा कि साहित्य में स्वीकृति का आधार भिन्न होता है । तुलसी हिन्दी कवि है, मीर, ग़ालिब नहीं । उर्दू एक सीमित वर्ग की भाषा के रूप में मान्य हुई । अपने निहित स्वार्थों और एक सीमित वर्ग की भाषा होने के कारण ही उर्दू इस दशा को प्राप्त हुई । ऐसा होना स्वाभाविक था।[30] इस प्रकार चर्चा नितांत उत्तेजक दौर में आकर समाप्त हुई ।

§"माध्यम", विवेचना फरवरी 1967§ संस्कृति अपने आप में बहुत जटिल विषय है । इस पर बहुत कुछ लिखा गया है और लिखा जाएगा । पर यहाँ इसी की दार्शनिक विवेचना पर विचार किया जाये, जिसके लेखक हैं देवराज

और समीक्षक हैं- संगमलाल पाण्डेय । चर्चा का आरंभ देवराज द्वारा दी गई संस्कृति की परिभाषाओं को देखने के बाद । देवराज ने लिखा है- "संस्कृति एक मूल्य है । संस्कृति मनुष्य के उन व्यापारों तथा अभिव्यक्तियों का नाम है जिन्हें वह साध्य के रूप में महत्वपूर्ण मानता है । संस्कृति उन समस्त क्रियाओं को कहते हैं जिनके द्वारा मनुष्य अपने को विश्व की निरूपयोगी किन्तु, अर्थवती छवियों से, फिर वे छवियाँ चाहे प्रत्यक्ष हों अथवा कल्पित, संबंधित करता है । संस्कृति उस बोध चेतना को कहते हैं जिसका सार्वभौम उपभोग या स्वीकार हो सकता है, और जिसकी विषय वस्तु सत्ता के वे पहलू हैं जो निर्वैयक्तिक रूप में अर्थवान हैं । वास्तव में संस्कृति उच्च तथा समृद्ध जीवन का पर्याय है, उस जीवन का जो सृष्ट के प्राणियों में केवल मनुष्य को ही उपलब्ध हो सकता है, और जिसका संबंध मनुष्य की विशिष्ट शक्तियों तथा विशेषताओं से है ।"[31]

संस्कृति विषयक मान्यताओं को (देवराज की) उद्धृत कर समीक्षक ने यह अच्छा कहा है कि इनमें परस्पर अंतर्विरोध है । इसीलिए इनसे पाठक भ्रमित हो जाता है । फिर यह भी विचारणीय नहीं माना गया है कि संस्कृति क्या ज्ञान की तरह ही मूल्य है ? या कि वह कोई मूल्यों का संस्थान है ? फिर संस्कृति क्या है- मूल्य या कि मूल्य चेतना ? बाद में समीक्षक स्वयं ही इसका समाधान देता हुआ कहता है कि मेरी दृष्टि में देवराज ने मूल्यबोध से लेकर मूल्य लाभ तक के समस्त व्यापारों और परिणामों को संस्कृति कहा है ।[32]

लेकिन यह कोई आवश्यक तो नहीं है कि बिना तर्क के पाठक इसे अपना ले । प्रश्न करके समीक्षक स्वयं प्रश्नों के घेरे में आ गया है । बेहतर यह होता कि समीक्षक "संस्कृति" संबंधी अपनी मान्यता रखता और तब उस पर देवराज की मान्यताओं को जांच कर निष्कर्ष देता । इसके आगे समीक्षक ने दो कदम आगे बढ़कर संस्कृति को "मूल्य साधना" कहकर अपनी बात समाप्त कर दी है और इस पुस्तक को "मूल्य विज्ञान" या "मूल्य मीमांसा" का ग्रंथ कह डाला है ।[33]

अब देवराज की "मूल्य मीमांसा" संबंधी दृष्टिकोण को देखा जाये जिसे समीक्षक ने "नया जीवन दर्शन" कहा है । देवराज की मान्यता है कि पुराने मूल्यों का मूल्यांकन करके आधुनिक संदर्भ में उसका समन्वय करना ही "नया जीवन दर्शन" है ।[34] इस मान्यता को समीक्षक ने प्रशंसा की दृष्टि से देखा है । "दर्शन" के लक्ष्य पर बात करते हुए देवराज मानते हैं कि परमार्थिक समन्वयवाद दर्शन का लक्ष्य है । पर परमार्थिक समन्वयवाद को वे विस्तार से व्याख्यायित करने की बात वे भूल बैठे हैं । मेरे अपने विचार में शायद इसे वे इस सूत्र से समझाते हैं- "दर्शन का काम उन विरोधों तथा असंगतियों को दूर करना है, जो विभिन्न विज्ञानों, कलाओं तथा नैतिकता, अध्यात्म आदि क्षेत्रों की दृष्टियों, पद्धतियों, मान्यताओं आदि के बीच उठ खड़ी होती है ।[35]

यह सूत्र भी अगर "समन्वयवाद" का सूत्र है तो इसमें समीक्षक को ये आपत्ति है कि इसकी छत्रछाया में हर सिद्धान्त मूल्यवान प्रतीत होता है, क्योंकि हर सिद्धान्त में कुछ न कुछ मूल्य या प्रयोजन होता है । यही कमी देवराज की इस मान्यता में दिखाई देती है । फिर ये आपत्ति गौरतलब है कि अमूल्य क्या है, और कैसे कभी-कभी सारे मूल्य अमूल्य हो जाते हैं ।[36] देवराज ने अपनी पुस्तक में कई प्रश्नों से टकराने की कोशिश की है, मसलन- राज्य क्या है ? क्या उसका उन्मूलन संभव है ? समाज क्या है ? क्या वह वर्गहीन हो सकता है ? सरकार क्या है ? क्या उसका उन्मूलन संभव है ? क्या राजदंड निरपेक्ष हो सकता है ? और यह कि क्या विश्व-सरकार संभव है ? लेकिन यहाँ समीक्षक की आपत्ति ये है कि लेखक ने बेशक इन प्रश्नों पर गहराई से विचार किया है, पर इनका समाधान न देकर उसने सिर्फ सबमें परस्पर समन्वय की बात करके छुट्टी पा गया है ।[37]

अपने आलेख के अंत में यह मानते हुए कि देवराज इस पुस्तक के माध्यम से नीत्शे और मार्क्स की दार्शनिक मान्यताओं के समकक्ष एक सुसंगत दार्शनिक अवधारणा प्रस्तुत कर सकते थे, जिसमें मूल्यों में अर्थ और शक्ति की

प्रधानता के साथ-साथ समन्वय का सिद्धान्त प्रतिपादित हो सकता था, यह आरोप लगाया है कि यह ग्रंथ वास्तविक शोध-प्रबंध का रूपांतरण होने के कारण दूसरे दर्जे के चिंतन तक ही सीमित है ।[38]

"विवेचना" में रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कृति की प्रशंसा में कहा कि इसमें सचेतन ढंग से गुणात्मक मानववाद की व्याख्या है । बालकृष्ण राव ने कहा कि इसे देवराज का वैचारिक साहस कहना चाहिए कि उन्होंने इस विवादास्पद समय में चिंतन प्रस्तुत किया है ।[39] कुल मिलाकर जिस तरह समीक्षक ने देवराज की इस कृति की समीक्षा की है, वह प्रशंसनीय इस अर्थ में है कि उसने कई चिंतनपरक सवाल छोड़े । देवराज का अपना दृष्टकोण भी समन्वयपरक मानववाद के रूप में सामने आया ।

("माध्यम" मार्च 1966) "रस सिद्धान्त" की अवधारणा भारतीय काव्यशास्त्र में बहुत पहले से स्थापित है । लेकिन स्फूट विचार सूत्रों के यत्र-तत्र बिखराव के कारण इस पर समग्रता से विचार न हो सका था । आचार्य शुक्ल ने जब रसवाद की मान्यता पर चिंतन के सूत्र दिए तो हिंदी में इस पर चर्चा शुरू हुई । डॉ0 नगेन्द्र का "रस सिद्धांत" इसी श्रृंखला की परिणति था जो प्रकाशित होने के तुरंत बाद पर्याप्त चर्चित और विवादित रहा । "विवेचना" में इस पर अपना निबंध प्रस्तुत करते हुए जगदीश गुप्त ने कई महत्वपूर्ण प्रश्न उठाए थे । समीक्षा के आरंभ में ही उनका कहना है- "मुझे इसको पढ़कर लगा कि उनकी यह कृति ज्ञानवृद्धि तो कर सकती है पर विवेकवृद्धि इससे संभव नहीं है । भारतीय दृष्टि सात्विक ज्ञान उसे मानती है जिससे विभक्त में अविभक्त की प्रतीति उत्पन्न हो परन्तु विभक्त करना विवेक का कार्य है ज्ञान का नहीं और अविभक्त क्या है यह ज्ञान इस पर निर्भर करता है कि हम उसे कितना और कैसे विभक्त कर सकते हैं ।"[40]

ज्ञानवृद्धि और विवेकवृद्धि से संबंधित आलोचकीय तनाव में जगदीश गुप्त इस कदर आक्रामक हो गए लगते हैं कि उनसे आरंभ में ही यह प्रहार हो गया है । अब भारतीय दृष्टि में "रस सिद्धान्त" सात्विक ज्ञान है या

नहीं, इसका निराकरण तो आगे हो पाएगा । डॉ0 नगेन्द्र ने अपनी इस कृति के प्रारंभ में कहा है कि यह उनकी लेखनी का उत्तमांश है और इसकी रचना की पीछे उनके तीन उद्देश्य हैं:-

1. आज तक के रस संबंधी समस्त चिंतन को अत्यंत परिश्रम और मनोयोग पूर्वक एकत्र करके उसे एक ज्ञान-कोश का रूप देने की ।

2. भारत की संपूर्ण काव्यशास्त्रीय परंपरा को आत्मसात करते हुए अखिल भारतीय स्तर पर रसविषयक अध्ययन के क्षेत्र में बंगला-मराठी आदि के समक्ष हिन्दी के गौरव को प्रतिष्ठत करने की ।

3. अत्यंत साहस के साथ भारतीय और पाश्चात्य सिद्धांतों को समीकृत करते हुए, देशकाल निरपेक्ष यानी सार्वभौमिक और सार्वकालिक साहित्यालोचन-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापन की ।[41]

लेकिन समीक्षक की राय में नगेन्द्र अपने पहले दो लक्ष्यों में तो शायद सफल दिखाई देते हैं पर तीसरे में उन्हें सफलता नहीं मिली है ।

यहाँ पहले इस पर गौर किया जाये । यहाँ समीक्षक ने डॉ0 नगेन्द्र की इस स्थापना को संदिग्ध माना है जिसमें उन्होंने "कामसूत्र" को ऐहिक दृष्टि के कारण अथर्ववेद की लौकिक तथा अभिचार परंपरा में माना है और यह कि यह कृति भरत के नाट्यशास्त्र से पहले की रचना है ।[42] इस खंडन में उन्होंने जो प्रमाण दिये हैं उसे परखने की जरूरत से आगे अन्य धारणाओं पर संक्षिप्त दृष्टपात आवश्यक है । दूसरी स्थापना यह कि "कामसूत्र" में रस का प्रयोग नाट्यशास्त्र से मिलते-जुलते अर्थ में हुआ है । इस पर समीक्षक का स्पष्ट कथन है कि यह समुचित नहीं है । उसका कहना है कि उनके तीन उद्धरणों (इससेसंबंधित) से पहले दो में प्रयुक्त रस" शब्द स्पष्टत: काम और उद्वेग के अर्थ में आया है,जो भरत के अर्थ से इसलिए तत्वत: भिन्न है कि उन्होंने नाट्यशास्त्र में रस को रति और काम तो क्या केवल श्रृंगार तक भी सीमित नहीं माना है जबकि कामसूत्र उसे मात्र "सुरत-पर्याय" के रूप में प्रयुक्त करता है । तीसरे उद्धरण में विद्वान लेखक ने "शीला" की

जगह "लीला" शब्द को अपनी स्थापना का आधार मान बैठा है ।[43]

"कामसूत्र" से रस-सिद्धांत की परंपरा को निर्धारित करने की डॉ0 नगेन्द्र की दृष्टि का खंडन करते हुए जगदीश का कहना है कि ऐसा करने से यही लगता है कि रस से मतलब है श्रृंगार रस और श्रृंगार रस का मतलब है- नायिका भेद । इसी तर्क से रस-सिद्धांत वहाँ पहुंच गया जहाँ रीतिकाल स्थित हैं । डॉ0 नगेन्द्र ने कामशास्त्र को बिना किसी हिचक के अथर्ववेद और नाट्यशास्त्र के बीच स्थापित कर दिया; इसके पीछे मुझे एक और कारण दिखाई देता है और वह है आधुनिक मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में रस और रस के अंगों की व्याख्या ।[44]

इस तर्क से यह स्पष्ट ध्वनित हो रहा है कि आलोचक ने डॉ0 नगेन्द्र को यहाँ फ्रायड के विचारों से बहुत अधिक प्रभावित माना है । इस आरोप के पीछे समीक्षक के मन में शायद डॉ0 नगेन्द्र की रीतिवादी अध्ययन के प्रभाव की छाया रही हो । लेकिन यह बड़ा अजीब लगता है कि जगदीश गुप्त ने डॉ0 नगेन्द्र के लेख "साहित्य की प्रेरणा" को इस सिद्धान्त का आधार मान लिया है जिसमें उन्होंने कामदर्शन को रस की पीठिका स्वीकार किया है ।

अब कुछ और आपत्तियाँ:-

1. रस को ध्वनि के ऊपर प्रतिष्ठित करना एक अतिवाद है ।[45]

2. रस की सबसे बड़ी सीमा यही है कि उसमें उसी को आधार मानकर तारतम्य-मूलक भेद करना संभव नहीं है ।[46]

3. रस-सिद्धान्त का विरोध अपूर्ण ज्ञान का परिचायक है ।[47]

4. संवेद्य कवि की अनुभूति ही है, कथा का एक अणु भी नहीं । इस प्रकार तत्व रूप में वस्तु की सत्ता कवि के व्यक्तित्व से स्वतंत्र नहीं है ।[48]

इन्हीं सारी आपत्तियों (नगेन्द्र की परंपरा विरुद्ध धारणाओं पर) का निष्कर्ष देते हुए जगदीश गुप्त ने कह दिया है कि चूंकि डॉ0 नगेन्द्र ने परस्पर विरोधी दृष्टि से सिद्ध रस की धारणा को ही नकार दिया है, इसलिए उनके इस "रस सिद्धान्त" को "सिद्ध रस" का अंत कहना चाहिए ।[49]

"रस सिद्धान्त" में डॉ0 नगेन्द्र की इस स्थापना पर कि साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है, समीक्षक ने गहरी आपत्ति दर्ज की है । उनका कहना है कि इस कथन से लेखक ने पूर्ववर्ती मतों का खंडन किया है परन्तु स्वयं उसके प्रवाह में एक-दूसरे के अतिरेक से ग्रस्त हो गया है । वस्तु का आत्यंतिक निषेध नहीं होता, पर नगेन्द्र ऐसा करते हैं ।[50] सौंदर्य पर विचार करते हुए नगेन्द्र ने सौंदर्य-चेतना को एक मिश्रवृत्त बताया और उसके दो योजक तय माने-(1) प्रीति या आनंद और (2) विस्मय । उनके मत में प्रीति का प्राधान्य रसवाद में और विस्मय का अलंकारवाद में हुआ । इस पर आपत्ति व्यक्त करते हुए समीक्षक का मानना है कि "विश्रांति" योजक तत्व हो सकती है, लेकिन अपनी मान्यता के प्रतिपादन के समय भरत पर दृष्टि नहीं डाली जिन्होंने रस की परिणति विश्रांति में माना ।[51]

समीक्षक को नगेन्द्र की इस पद्धति पर भी गहरा एतराज़ है कि वे रस की बुनियाद पर आधुनिक साहित्य की व्याख्या करने की कोशिश करते हैं । जबकि इसके पहले लिखी "सुमित्रानंदन पंत" नामक पुस्तक में उन्होंने इसी तरह के विवेचन से उबकर हजारी प्रसाद द्विवेदी के इस कथन को उद्धृत किया था कि "आजकल सम्यक् उद्बुद्ध रसों की व्यंजना न होकर भावों की ही अभिव्यक्ति होती है ।" तो फिर यह पूर्वग्रह क्यों ?[52]

डॉ0 नगेन्द्र ने लिखा है- "वास्तव में भारतीय काव्यशास्त्र का पर्यावलोचन करते हुए किसी भी प्रबुद्ध आलोचक को अनायास ही स्पष्ट हो जाता है कि उसका मेरुदंड रस सिद्धान्त ही है और उसमें इतनी क्षमता है कि प्रत्येक

युग तथा प्रत्येक देश के साहित्य का मार्मिक मूल्यांकन कर सके ।"[53]

दो-दो अंतर्विरोधों को दिखाने के बाद समीक्षक, डॉ0 नगेन्द्र की रसाभास के विचार की ओर लौटता है । नगेन्द्र मानते हैं कि "रस की अनुचित प्रवृत्ति का नाम ही रसाभास है ।[54] यहाँ यह प्रश्न उठता है कि औचित्य वस्तु में है अथवा उसके प्रवर्तन में । यदि वस्तु में अनौचित्य है तो क्या उसका निर्धारण भी रसदृष्टि से हुआ है अथवा किसी अन्य दृष्टि से । यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है । अंत में सिर्फ दो और आरोप-एक तो देवराज का आरोप कि नगेन्द्र ने इस पुस्तक में निरी एकात्मकता का परिचय दिया है, जिसे एकांत आत्मनिष्ठता कहेंगे ।[55] और दूसरा ये कि उनका रस चूंकि कवि की अनुभूति में ही निहित है, इसलिए इसका प्रतिपाद्य ही भ्रामक है ।[56]

इस तीखी और निर्मम समीक्षा के बाद यह स्पष्ट है कि नगेन्द्र ने रस-सिद्धान्त की स्थापना में कई भयंकर भूलें की हैं । इन भूलों में पूर्ववर्ती सिद्धान्तों का खंडन तो शामिल ही है, परवर्ती दृष्टियों की भी अवहेलना हुई है । सबसे आश्चर्यजनक बात तो ये है कि जिस रस को वे महान और ध्वनि की भी आत्मा स्वीकार करते हैं उसे वे वात्सायन के "कामसूत्र" में वर्णित निरी श्रृंगारिक "रसवादिता" के रस से जोड़ते हैं । सबसे कठिनाई तो यहाँ आकर होती है जहाँ वे कवि की अनुभूति का साधारणीकरण होना घोषित करते हैं । उनके लिए "वस्तु" गौण है । कहना न होगा कि यहीं आकर वे अपनी सीमा तय कर लेते हैं । अगर वे "वस्तु" को साधारणीकृत मानते तो उनका सिद्धान्त ज्यादा वैज्ञानिक और मान्य होता, तब "भाव" उनके लिए निरर्थक नहीं बनता ।

"विवेचना" की गोष्ठी में भी इस पर विचारोत्तेजक चर्चा हुई जिसके मूल में समीक्षक की आपत्तियाँ ही थीं । कुछ लोगों ने दूसरे ढंग से कृति को देखा । पर अंतिम राय यही निकली कि जैसे भी हो कृति पर्याप्त व्यंजक है ।[57]

(1"माध्यम" अक्तुबर 1967) "कामायनी" एक ऐसी कृति है जिस पर मूल्यांकनों का दौर तब तक चलेगा जब तक वह प्रासंगिक रहेगी । "विवेचना" में इसी के पुनर्मूल्यांकन पर रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अपना निबंध पढ़ा था । इस निबंध में उनका कथन है कि "कामायनी" को परिपाटीबद्ध मूल्यांकनों की पद्धतियों से बाहर आकर उसके वैशिष्ट्य को रेखांकित करने की जरूरत है ।[58] निसंदेह महाकाव्य के तौर पर, रूपक या ऐतिहासिक-पौराणिक विधान के तौर पर या उसमें चरित्र, रस या मात्र दर्शन की भूमिका को आधार मानकर मूल्यांकन करने से "कामायनी" के साथ न्याय नहीं होता । इसीलिए चतुर्वेदी ने इसके मूल्यांकन में कृति के विशिष्ट समग्र विधान को सामने रखने की सलाह दी है ।[59]

आगे चतुर्वेदी आचार्य शुक्ल की "कामायनी" संबंधी इस मान्यता से असहमत दिखाई देते हैं जिसमें उन्होंने इसके महत्व को समझते हुए भी इसकी आस्वादन प्रक्रिया को स्पष्ट और प्रशस्त नहीं किया ।[60] फिर वे नंददुलारे वाजपेयी पर यह आरोप लगाते हैं कि उन्होंने प्रसाद की नई दृष्टि और उसकी सार्थकता की बात तो की है, पर उसे वे स्पष्ट नहीं कर सके हैं ।[61] आचार्य द्विवेदी के बारे में यह सच है कि वे अपने इतिहास संबंधी दृष्टिकोण में आचार्य शुक्ल से आगे नहीं गए हैं । डॉ0 नगेन्द्र की स्थिति यह है कि पहले तो उन्होंने "कामायनी" को मनोविज्ञान की "ट्रीटाइज" कहा और तत्काल बाद धारणा बदलकर उन्होंने समग्रता से इसके मूल्यांकन की कोशिश की, पर रचना और अनुभव दोनों पर मौन हैं ।[62] समीक्षक ने नगेन्द्र द्वारा "कामायनी" को पुराने काव्यशास्त्र में बांध देने को भी गलत माना है ।[63]

लेकिन यह चौंकाने वाली बात है कि समीक्षक को मुक्तिबोध का विवेचन सटीक लगता है । उनके इस कथन को कि "कामायनी" जीवन की पुनर्रचना है, समीक्षक ने प्रशंसा की दृष्टि से देखा है और माना है कि "कामायनी: एक पुनर्विचार" "कामायनी" के पुनर्मूल्यांकन की पहली सार्थक कोशिश

है । हालांकि उन्होंने मुक्तिबोध की मार्क्सवादी पद्धति तथा फ्रांसी के रूप में इसे देखने की कोशिश को गलत माना है ।[64]

अब यह देखना दिलचस्प होगा कि समीक्षक क्या कहना चाहता है । अपने मत के प्रस्थान में उसका कथन है कि हर महत्वपूर्ण काव्यकृति की तरह "कामायनी" का अपना विशिष्ट विधान है । हर महत्वपूर्ण कृति का वैशिष्ट्य मूलत: उसके विधान का वैशिष्ट्य होता है जिसमें रचना की पूरी कल्पना उभरती है । विधान की यह धारणा कुछ वैसी ही है जैसी कि मानव-व्यक्तित्व की, यानी रचना का "व्यक्तित्व" ही उसका विधान है । "कामायनी" के विधान में एक बड़ी समग्र और जटिल परि-कल्पना का रूप उभरता है । आदि मानव का रूप एक ओर है तो श्रद्धा और इड़ा के प्रथम साक्षात्कार की प्रभविष्णुता दूसरी ओर है । इन चरित्रों की परस्पर टकराहट की पृष्ठभूमि में देव-दानवों के सांस्कृतिक संघर्ष का रूप है तथा मानवीय संस्कृति पिछली संस्कृतियों से कैसे भिन्न और अधिक सार्थक रूप में विकसित होती है, इसका आख्यान है ।[65]

स्वभावत: चतुर्वेदी ने "कामायनी" को तमाम पुराने मूल्यांकनों से अलग सोचने और समझने की कोशिश की है और उसका व्यापक परिप्रेक्ष्य में परीक्षण किया है । आगे अर्थ के स्तर पर रचनात्मक स्वाधीनता और स्वायत्तता के कृति में विकास के प्रश्न पर विचार करते हुए समीक्षक ने "कामायनी" की भाषा के रूप को काफ़ी कमज़ोर और लचर कहा है । फिर "कामायनी" की विशिष्टता उन्होंने अप्रतिम बिंब विधान में दिखाई है और कहा है कि कमजोर आधार-भाषा के बावजूद इतना कुशल बिंब प्रयोग साहित्यिक इतिहास की एक असाधारण पर सुखद विडंबना है ।[66]

अब एक नज़र "कामायनी" के प्रतिपाद्य पर । यह सच है कि "कामायनी" मानवीय संस्कृति के आधुनिक संकट को पहचानती है । इसीलिए उसमें मानव के सांस्कृतिक विकास की सूक्ष्म व्याख्या है और उसमें संस्कृति के वर्तमान संकट का विश्लेषण है । प्रसाद का समरसता भाव और आनंद की धारणा स्थूल समाधान परक हो गए हैं फिर भी कर्म को भोग और भोग

को कर्म द्वारा प्रेरित मानकर प्रसाद ने रामकृष्ण, विवेकानन्द, तिलक आदि की दृष्टि को विस्तार दिया है ।[67]

इस तरह रामस्वरूप चतुर्वेदी ने "कामायनी" को एक नए ढंग से देखने की कोशिश की है । हालांकि इस कोशिश में भी विवाद की काफी गुंजायश है । लेकिन मूल मंतव्य निसंदेह उसे नई दृष्टि से देखने की ओर प्रेरित करते हैं । "विवेचना" की गोष्ठी में भी इस पर व्यापक चर्चा हुई पर समीक्षक के कथन के प्रति सहमति का भाव ज़्यादा था । सिर्फ चंद्रमोहन ने मुक्तिबोध की धारणा से असहमति व्यक्त की जिससे चतुर्वेदी की सहमति थी ।[68]

("माध्यम" सितम्बर 1966) आलोचना का कार्य निरंतर जटिल होता जा रहा है । ज्यों-ज्यों साहित्य का विस्तार होता है, त्यों-त्यों आलोचना के लिए नए तरीके की खोज आवश्यक होती है । इस प्रक्रिया में भी बहस की गुंजायश है । "समकालीन साहित्य: आलोचना की चुनौती" नामक आलेख में बच्चन सिंह ने अपने स्तर पर इन चुनौतियों को रेखांकित करने की कोशिश की । यह तो बहुत सामान्य बात है कि साहित्य के अंतर्गत जब भी नए युग का सूत्रपात होता है और उसमें नई प्रवृत्तियों का दबाव बढ़ता है तब-तब आलोचना के पुराने ढंग में बदलाव की जरूरत महसूस होती है । इसी को रेखांकित करते हुए बच्चन सिंह ने लिखा कि पुराने साहित्य के मूल्यांकन के ढर्रे बंध गए हैं । उनके मान सुनिश्चित हैं । उनके आधार पर उनका मूल्यांकन भी संभव नहीं है । कृतियाँ वही होती हैं, हम बदल जाते हैं, ज़माना बदल जाता है ।[69]

ये बातें ऐसी नहीं हैं जिससे आलोचक अनभिज्ञ हों । फिर भी, उनका अगला कथन कुछ ज़्यादा वजन रखता है । समकालीन साहित्य और आलोचना पर बात करते हुए वे लिखते हैं कि समकालीन साहित्य-विशेषकर आज का साहित्य आलोचक को चुनौती देता है । आज के साहित्य को

निराशा, त्रास, अकेलेपन का साहित्य कहना बहुत संगत नहीं है । उसे चुनौती का साहित्य कहा जा सकता है । जो इस चुनौती का सामना करने को तैयार है, उसी को आलोचना करने का भी अधिकार है । सच्चा आलोचक कवि की अंतर्दृष्टि से टकराता है और उसके संदर्भ में आत्म-परीक्षा करता है । वह अपने हथियारों को बदलता है, उसका नए सिरे से अन्वेषण करता है ।[70]

निसंदेह बच्चन सिंह की इस धारणा से असहमत होने का कोई कारण नहीं ढूंढ़ा जा सकता । लेकिन आलोचक को क्या यह पता नहीं है ? अगर नहीं तो फिर वह आलोचक है क्यों । फिर बच्चन सिंह की इस उक्ति में भी अजीब विडम्बना दिखाई देती है जिसमें वे ये कहते हैं कि जब जितने व्यक्ति हैं उतने "विज़न" हैं तो प्रत्येक की आलोचना का "विज़न" अलग होगा ।[71] "विज़न" का मतलब यहाँ अगर "वैचारिक प्रतिबद्धता" से हो तब तो यह साफ़ कहा जा सकता है कि ये धारणा खाई से निकालकर खंदक में डालती है । अगर व्यक्ति के वैयक्तिक नज़रिए से आशय हो तब यह कहा जायेगा कि तमाम दुराग्रहों के बावजूद कृति सांदर्भिक मूल्यांकन की मांग करती है । आलोचक का काम इस पर राय देना यह एकदम नहीं है कि कृति को कैसा होना चाहिए/वरन् यह है कि वह अपनी संपूर्ण बुनावट में क्या कुछ नया दे पाई है या क्या कुछ उत्तेजना पैदा कर पा रही है, इसकी पड़ताल करना है ।

इतना ही नहीं अगर हम अनुभूति की सुचिंतित दृष्टि विस्तार की कलात्मक अभिव्यक्ति को साहित्य मानते हैं (घुमा-फिराकर यही सत्य भी है) तो छायावाद की "आत्मानुभूति" और "आत्मान्वेषण" शब्द को गोल कहकर टाल देने की इज़ाज़त नहीं दी जा सकती । जैसाकि बच्चन सिंह ने यहाँ कहा है ।[72]

दूसरे स्थल पर समीक्षक का विचार है कि रचनाकार रचनागत संवेदना का विश्लेषण या विवेचना नहीं करता, वह उसका पुनर्निर्माण या पुनर्सृजन

करता है । विवेचन अपेक्षाकृत स्थिर व्यापार है तो पुनर्सृजन गत्यात्मक और सक्रिय । इसी व्यापार में वह "विज़न" की तलाश करता है । रचना के विविध स्तरों का उद्घाटन करता है ।[73]

आलोचक का कार्य इसी स्तर को पकड़ना और उसकी खोज करना है । सौभाग्य से इस स्तर पर आलोचक की धारणा से सहमति नहीं बनती । पर इस बात से भी मतभेद होता है कि आज के अंतर्बाह्य संकट को समझने के लिए फ्रायडीय, नाट्य या मार्क्सवादी दर्शन पर ही आलोचना हो सकती है ।[74] यह आलोचक पर निर्भर है कि वह दुनिया की तत्कालीन स्थितियों की बारीक समझ रखता हो लेकिन यह आवश्यक नहीं कि आलोचना के लिए इन्हीं वादों से नि:सृत प्रतिमान आवश्यक हैं ।

बच्चन सिंह की इस बात से कोई आपत्ति नहीं है कि आज का सब कुछ बदल गया है और इस बदलाव को रेखांकित करते हुए ही आलोचना कार्य संभव है ।[75] लेकिन इसमें वे ऐसा क्या कह रहे हैं जो नया हो और जिसे आज का आलोचक न समझता हो, यह समझ में नहीं आता ।

अब सिर्फ बच्चन सिंह की अंतिम सलाह पर ध्यान केंद्रित करें । उनका कहना है कि आज का आलोचक वही है जो आज के साहित्य में गहरी संसक्ति रखता हो । जो लोग आलोचना लिखने के लिए समकालीन साहित्य पढ़ते हैं, वे संशक्त नहीं है । रचनात्मक साहित्यकार के लिए भी यह ज़रूरी है और आलोचक के लिए भी ।[76] यह बात अपने आप में अंतर्विरोधी है । साहित्यकार (अगर वह सच में है) रचनात्मक ही होता है । उसके लिए "रचनात्मक" विशेषण जोड़ना अटपटा लगता है । फिर ये कि उसकी रचनात्मकता की शर्त यह नियत कर दी गई है कि वह समकालीन साहित्य में संसक्ति रखे । यह कहीं से भी स्वीकार्य नहीं । यह साहित्यकार के विस्तार या उसकी शिल्पगत समझ को बढ़ाने के लिए ही हो सकती है, उसे महान बनाने के लिए नहीं । इतिहास गवाह है कि सृजन कर्म में रत व्यक्तियों ने इसकी परवाह नहीं की है । यह कतई जरूरी नहीं कि उत्कृष्ट साहित्य पढ़कर रचनाकार उत्कृष्ट रचना दे सके ।

हाँ, आलोचक को समकालीन साहित्य से अनिवार्य सरोकार की अपेक्षा होती है । लेकिन उसे यह छूट देनी पड़ेगी कि वह रचनाओं के बीच चुनाव की प्रक्रिया से गुजरे । वैसे भी प्रचलित प्रतिमानों के बावजूद हर रचना की सुसंगत आलोचना के लिए उसकी की आंतरिक निर्मिति से निकले प्रतिमान ही कारगर होते हैं । अगर नहीं तो स्थूल प्रतिमानों से मूल्यांकन करने की प्रक्रिया को सृजनात्मक आलोचना ही क्यों कहा जाय । "विवेचना" की गोष्टी में डॉ0 रामविलास शर्मा सहित कई अन्य वक्ताओं के विचारों[77] से भी यही ध्वनित होता है ।

आशय यह कि "विचार की आलोचना" के स्तर पर "विवेचना" ने विविध विचारों और दृष्टियों को परखा । कहना न होगा कि यह परख साहित्य और आलोचना के सरोकारों तक पहुंचने में पर्याप्त मददगार है । "समय और हम" को देखते हुए जैनेन्द्र की दार्शनिकता के बारे में कोई भ्रम नहीं होता । यह समझ उनकी रचनाओं को ठीक ढंग से समझने में भी सहायक है । ठीक इसी तरह जब तक मुक्तिबोध की "एक साहित्यिक की डायरी" को अच्छी तरह पढ़ा नहीं जाता, उनकी रचनात्मक दृष्टि और सामाजिक प्रतिबद्धता के मूल्यों को गहराई से नहीं देखा जा सकता । डॉ0 नामवर सिंह की समीक्षा ने इस क्रम में कईअनछुए तथ्यों की ओर संकेत किया है और रचना तथा जीवन में रचनाकार के दायित्व को मुक्तिबोध की मान्यता पर तौला है ।

"भाषा और समाज" के माध्यम से भाषा विज्ञान तथा आलोचना के कुछ विकट प्रश्नों के हल खोजते हुए विद्यानिवास मिश्र ने उर्दू-हिन्दी विवाद को सुलझाने का प्रयत्न किया है । इसी तरह डॉ0 देवराज के दार्शनिक प्रश्न, डॉ0 नगेन्द्र के रस सिद्धांत, कामायनी के पुनर्मूल्यांकन तथा अन्त में समकालीन आलोचना पर डॉ0 बच्चन सिंह की टिप्पणी से परंपरा से चली आ रही दृष्टि तथा प्रविध में संशोधन की संभावना बनी । इस अध्याय में तर्क और विचार के उत्तेजक संवादों से रचना, आलोचना और विचार के अंत:सूत्री संबंधों को पहचानने में मदद मिलती है जो इसकी उपलब्धि कही जायेगी ।

संदर्भ सूची

1. "माध्यम", जून 1964, पृष्ठ 79
2. वही, पृष्ठ 80
3. वही, पृष्ठ 83
4. वही, पृष्ठ 84
5. वही, पृष्ठ 85
6. वही, पृष्ठ 86
7-8. वही, पृष्ठ 108-109
9. "माध्यम", नवम्बर 1964, पृष्ठ 79
10. वही, पृष्ठ 80
11. वही, पृष्ठ 80
12. वही, पृष्ठ 80
13. वही, पृष्ठ 81
14. वही, पृष्ठ 81
15. वही, पृष्ठ 82
16. वही, पृष्ठ 83
17. वही; पृष्ठ 84
18. वही, पृष्ठ 85
19. वही, पृष्ठ 85
20. वही, पृष्ठ 86
21-22. वही, पृष्ठ 86, 87, 88
23. "माध्यम", सितम्बर 1964, पृष्ठ 75
24. वही, पृष्ठ 76
25. वही, पृष्ठ 77
26. वही, पृष्ठ 78
27. वही, पृष्ठ 79
28. वही, पृष्ठ 80
29. वही, पृष्ठ 81
30. वही, पृष्ठ 83
31. "माध्यम", फरवरी 1967, पृष्ठ 67
32. वही, पृष्ठ, 68
33. वही,पृष्ठ 69
34. वही, पृष्ठ 70

35. "माध्यम", फरवरी 1967, पृष्ठ 71
36. वही, पृष्ठ 70
37. वही. पृष्ठ 75
38. वही, पृष्ठ 77
39. वही, पृष्ठ 79
40. माध्यम, मार्च 1966, पृष्ठ 77
41. वही, पृष्ठ 78
42. वही, पृष्ठ 79
43. वही, पृष्ठ 80
44. वही, पृष्ठ 82
45. वही, पृष्ठ 83
46. वही, पृष्ठ 83
47. वही, पृष्ठ 85
48. वही, पृष्ठ 88
49. वही, पृष्ठ 89
50. माध्यम, अप्रैल 1966, पृष्ठ 83
51. वही, पृष्ठ 85
52. वही, पृष्ठ 86
53. वही, पृष्ठ 88
54. वही, पृष्ठ 89
55. वही, पृष्ठ 92
56. वही, पृष्ठ 93
57. वही, पृष्ठ 97

58. माध्यम, अक्तूबर 1967, पृष्ठ 66

59. वही, पृष्ठ 66

60. वही, पृष्ठ 67

61. वही, पृष्ठ 68

62. वही, पृष्ठ 69

63. वही, पृष्ठ 70

64. वही, पृष्ठ 71

65. वही, पृष्ठ 71

66. वही, पृष्ठ 73

67. वही, पृष्ठ 74, 75

68. वही, पृष्ठ 76, 81

69. माध्यम, सितंबर 1966, पृष्ठ 82

70. वही, पृष्ठ 84

71. वही, पृष्ठ 84

72. वही, पृष्ठ 85

73. वही, पृष्ठ 86

74. वही, पृष्ठ 87

75. वही, पृष्ठ 87

76. वही, पृष्ठ 89 - 93, 94

उपसंहार

पिछले अध्यायों में हमने दिखाया है कि हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में "हिन्दी साहित्य सम्मलेन" इलाहाबाद से प्रकाशित होनेवाली "माध्यम" पत्रिका का महत्व किन कारणों से है तथा "विवचेना" की गोष्ठियों में विभिन्न कृतियों पर पढ़े गये निबंधों तथा उन पर हुई चर्चाओं से कविता, कथा साहित्य तथा विचार की आलोचना को क्या नया मिला ।

जैसाकि हमने पहले यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि "हिन्दी साहित्य सम्मेलन" की ओर से जिन उद्देश्यों को लेकर "माध्यम" का प्रकाशन आरम्भ हुआ उसको पूर्णतया तो नहीं पर एक सीमा तक भी जरूर हासिल किया गया । "विवचेना" की गोष्ठियों की सफलता से यह बात सिद्ध होती है कि आलोचना की जिन स्थितियों से क्षुब्ध होकर इसकी शुरूआत हुई, उसे सफलता प्राप्त हुई ।

कविता की आलोचना के स्तर पर "विवेचना" ने गंभीर चर्चा और विचारोत्तेजना का माहौल बनाकर कई नूतन स्थापनाओं की ओर संकेत किया और गाहे-बगाहे कुछ महत्वपूर्ण सूत्र भी दिये । मसलन - "शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट" पर अपने निबंध में विजयदेव नारायण साही अन्य बातों के अलावा जब इस बात पर बल देते हैं कि "शमशेर की कविताओं की बिंबावलियां निषेध का परिणाम नहीं हैं - कविता और जीवन के बीच के तनाव का परिणाम हैं । यही तनाव शमशेर के यहां संकेतों की सृष्टि करता है और कभी-कभी कविता कवित से बीच में ही छूट जाती है", तो शमशेर की कविताओं को देखने की नई समझ बनती दिखाई देती है । इसी तरह बालकृष्ण शर्मा "नवीन" को भारतभूषण अग्रवाल ने उदाहरणों के द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वे केवल राष्ट्रीय उद्बोधन के कवि नहीं है बल्कि विराट् संवेदना के कवि हैं । सियाराम शरण गुप्त पर तमाम गहमागहमी के बावजूद केवल यही निष्कर्ष पाया जा सका कि वे कुल मिलाकर परंपरावादी, आदर्शवादी कवि हैं ।

जिनके यहां आधुनिक मूल्यबोध का अभाव है । "बच्चन" की कविताओं की पड़ताल के बाद सिर्फ यही पाया जा सका कि वे यथार्थ अनुभूति के कवि नहीं, प्रेम और मस्ती के नितांत अकेले अनुभव के कवि हैं ।

सुमित्रानंदन पंत के "लोकायतन" से यह बात उभर कर सामने आयी कि कवि के यहां भविष्य और वर्तमान दोनों के प्रति स्पष्ट दृष्टि नहीं है । नरेन्द्र शर्मा की काव्यकृतियों से यह प्रकट हुआ कि वे छठे दशक से सातवें दशक के बीच भी छायावाद के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाये ।

श्रीकांत वर्मा ने कुंवर नारायण की "आत्मजयी" पर चर्चा के दौरान जिन बातों की ओर इशारा किया उसमें यह महत्वपूर्ण है कि नचिकेता के मिथकों को उठाकर कवि ने जिस अस्तित्ववादी प्रश्नों से जूझने की कोशिश की है उनकी संगति हिन्दू दर्शन से नहीं बैठती । "दिनकर" की "उर्वशी" पर यह आशय सामने आया कि वह अपनी भावभूमि के स्तर पर नर-नारी के द्वन्द्वों का अद्भूत और प्रभावकारी काव्य है । मुक्तिबोध के काव्य से यह तथ्य उभरा कि वे कथ्य के निरालेपन तथा भाषा की संगठित व्यंजना शैली के कारण हिन्दी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व वाले विराट् कवि हैं । अज्ञेय के काव्य पर बातचीत के दौरान यह सारांश निकला कि वे रागात्मक ऐश्वर्य के कवि हैं जिनके यहां सत्य का विस्तार नहीं, सत्य की गहराई नापने का प्रयास है और अज्ञेय इसी गराई और गंभीरता के कवि हैं ।

अज्ञेय और मुक्तिबोध से अलग रघुवीर सहाय, आत्म-स्वीकार और निजी अनुभव के खरे कवि हैं । गिरिजा कुमार माथुर रोमांटिक गीतकार हैं तो राजकमल चौधरी निजी अनुभूतियों के कवि हैं । अशोक वाजपेयी के पहले संग्रह "शहर अब भी संभावना है" पर विचार करने के बाद श्रीराम वर्मा ने यह निष्कर्ष दिया कि उनका कवि गहरे रूप में मानवीय भी है और अहं से संपुष्ट होकर हठी भी ।

इसी क्रम में नागेश्वर लाल ने विजयदेव नारायण साही की कृति "मछली घर" की समीक्षा की तथा यह कहा कि उनकी कविताएं "आहत औचित्यबोध" की प्रतिक्रिया से उपजी हैं । कविता की आलोचना के अंतिम कवि

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना थे जिनके काव्य संग्रह "गर्म हवाएँ" पर टिप्पणी के दौरान जगदीश गुप्त ने कहा कि सर्वेश्वर विडंबनापूर्ण सामयिक जीवन की साधारणता के ऐसे असाधारण कवि हैं जिनकी असाधारणता साधारणता से न तो कटी हुई कही जा सकती है न बहुत दूर की चीज़ ।

इस प्रकार कविता की आलोचना के तहत "विवेचना" ने परिपाटीबद्ध अवधारणों से अलग कई नूतन उद्भावनाएँ दीं जिससे आलोचित कवियों पर नई दृष्टि से विचार करने के सूत्र मिले ।

इसी तरह "कथा-साहित्य की आलोचना" में भी "विवेचना" ने कुछ नई भावभूमियों की ओर संकेत किया है जिससे हिन्दी आलोचना में कथा आलोचना को बल मिला है । यह बहुत स्पष्ट रूप से ज्ञात है कि हमारे यहाँ का कथा-साहित्य पिछले सौ वर्षों से प्रकाश में है । ध्यातव्य है कि यह कथा साहित्य आधुनिक कथा साहित्य है प्राचीन आख्यायिका नहीं । इसके विपरीत, हमारे यहाँ कविता की बहुत समृद्ध परंपरा रही है । यही कारण है कि गाहे-बगाहे कथा साहित्य की आलोचना में कविता की आलोचना के निकष ही प्रयोग में लाये जाते रहे हैं । इस बात को भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि हमारी आलोचना कविता केन्द्रित इसलिए भी रही कि भारतेन्दु से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति के एक-दो दशक तक कविता के ही आन्दोलन तेजी से उभरे और उन्होंने साहित्य के पूरे परिदृश्य को प्रभावित किया ।

"विवेचना" ने कथा-साहित्य की आलोचना में कविता-केंद्रित आलोचना से उसे निकालने की सार्थक कोशिश की । कहना न होगा कि इस कोशिश से कथा-साहित्य की समझदारी और उसकी पड़ताल की नई स्थितियाँ खुलीं । इस क्रम में हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास "चारू चन्द्र लेख" पर अपने निबंध में देवीशंकर अवस्थी ने कहा कि आचार्य द्विवेदी ने अपने इस उपन्यास में अपनी कल्पना को खुलकर खेलने का मौका दिया है और शिल्प तथा कथा की ठोस परिस्थितियों पर विचार नहीं किया है । "यह पथ बंधु था" पर अपने निबंध में नेमिचंद्र जैन ने नरेश मेहता के इस

उपन्यास को हिन्दी उपन्यासों के यथार्थोन्मुख अभियान का मुख्य पथ चिन्ह माना और उसे कलात्मक उपलब्धि कहा । लेकिन "जीवन के प्रति दृष्टि-कोण" की बात पर वे उसके सरलीकरण को भी रेखांकित किये ।

"अपने-अपने अजनबी" पर अपने निबंध में रामस्वरूप चतुर्वेदी ने यह कहा कि अज्ञेय के आरंभिक उपन्यासों में जो व्यक्तित्व की खोज आरंभ हुई थी-इस उपन्यास में उसकी एक ढंग की निष्पति है जो शायद फिर आगे की खोज के लिए प्रेरणा दे ।

इलाचंद्र जोशी ने मोहन राकेश के उपन्यास "अंधेरे बंद कमरे" की चर्चा में मुख्य निबंध में कहा कि इसमें युग के जीवन के रहस्यों को उद्घाटित करने की बजाय युग की बदली हुई अमरी वेशभूषा ही चित्रित है । उपेन्द्रनाथ अश्क के उपन्यास "शहर में घूमता आईना" पर बच्चन सिंह की टिप्पणी थी कि यह अपने रूप-विन्यास में अलग होने तथा गठित उपन्यास परंपरा से अलग जा पड़ने के कारण अधिक लोगों का ध्यान आकृष्ट कर सका है । यशपाल के "झूठा-सच" पर इन्द्रनाथ मदान की राय यह थी कि यह केवल उपन्यास का नाम नहीं है, वरन् एक जीवन दृष्टि भी है जो यशपाल की समस्त उपन्यास कला के मूल में है । इसलिए इस उपन्यास का मूल्यांकन भी यदि लेखक के इस जीवन-बोध से अवगत होकर किया जाये तो शायद अधिक संगत हो ।

इसी तरह डॉ० रघुवंश ने "बूंद और समुद्र" पर विचार करते हुए कहा था कि यह उपन्यास क्लैसिकी परंपरा में आता है और युग-जीवन के यथार्थ पर प्रतिष्ठित है । परन्तु यह आरंभ में ही समझ लेनी चाहिए कि यह उपन्यास अपने युग-जीवन को बहुत बड़े परिवेश में न ग्रहण करके एक सीमित क्षेत्र में ग्रहण कर प्रस्तुत करता है ।

भगवतीचरण वर्मा के "भूले बिसरे चित्र" पर अपनी प्रतिक्रिया में लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय की स्थापना थी कि उपन्यास में राजनीति तथा अन्य विषय

प्रासंगिक रूप से आए हैं और जितने अंश में ये आए हैं उतने में भी अपनी संपूर्ण चेतना लेकर नहीं आये । उपन्यास का मूल दृष्टकोण पुराना ही है- नियति का विधान । उदयशंकर भट्ट के "सागर लहरें और मनुष्य" पर प्रेमशंकर की मान्यता थी कि इसमें किसी को नायकत्व देने का यत्न नहीं मिलता और इस दृष्टि से उसमें आधुनिक शिल्प का प्रवेश अनायास हो जाता है । लक्ष्मीकांत वर्मा के उपन्यास "एक कटी हुई ज़िंदगी" पर अपने निबंध में डॉ0 गंगा प्रसाद विमल ने उसे एक आत्म केन्द्रित व्यक्ति की गाथा कहा । "वे दिन" को शिवप्रसाद सिंह पिकनिक प्रेम कथा मानते हैं और यह कहते हैं कि अपने विशिष्ट स्थलों, स्मृतियों आदि के कारण यह उपन्यास आकर्षक हो गया है । निर्मल वर्मा के कहानी संग्रह "जलती झाड़ी" से भी शिव प्रसाद सिंह को निराशा होती है और कहते है कि निर्मल की रचनाओं की मुख्य प्रवृत्ति रूमानी आउट साइडर की है, यद्यपि उसे उन्होंने पौश्चमी जीवन से संपृक्त अभिव्यक्तियों के अनुकरण के बल पर काफी आधुनिक बनाने का भी प्रयत्न किया है ।

इस तरह स्पष्ट होता है कि "विवेचना" में कथा-साहित्य की आलोचना पर विस्तार से विचार-विमर्श हुआ है और उससे कथा-आलोचना की बुनियाद को पुख्ता होने में मदद मिली है । कथा-आलोचना को कविता केन्द्रित निकषों से अलगाकर इस गोष्ठी ने अगर शुद्ध कथा-प्रतिमानों की बात की तो भी उससे बाद में कथा-आलोचना की संभावना और संरचना दोनों में मदद मिली । "विचार और आलोचना" के तहत हमने देखा है कि विभिन्न कृतिकारों ने विविध विषयों पर क्या-क्या विचार प्रकट किये हैं तथा उन पर पढ़ गये निबंध उनसे क्या-क्या निष्कर्ष निकाल पाये हैं । इसकी कुछ मुख्य बातों का संकेत कर देना यहाँ प्रासंगिक है ।

इस क्रम में सर्व प्रथम जैनेन्द्र की पुस्तक "समय और हम" को देखना आवश्यक है कि जिस पर हर्ष नारायण से मुख्य समीक्षा पढ़वायी गयी थी । समीक्षक ने अपने लंबे निबंध में यह निष्कर्ष दियाथा कि वे ईश्वर के सिवा कुछ भी

नहीं मान पाते, उनकी दृष्टि में प्रकृति अथवा मैटर अनीश्वर नहीं है, उन्हें "सब होने के अखंड स्वरूप" को ईश्वर मानने का आग्रह है । इस स्थापना और बाद में हुई चर्चा पर समुचित और यथासंभव इन पंक्तियों के लेखक ने अपनी बात कही है जो एक सीमा तक प्रासंगिक है ।

मुक्तिबोध की "एक साहित्यिक की डायरी" पर नामवर सिंह की सम्मति थी कि कुछ लोग दुनिया से बहस करते हैं तो कुछ सिर्फ अपने से, किंतु कुछ थोड़े से लोग ऐसे भी होते है जो दुनिया से बहस करने की प्रक्रिया में अपने आप से भी बहस चालू रखते हैं । मुक्तिबोध ऐसे ही थोड़े से लोगों में से थे और उनकी यह कृति ऐसी ही जीवंत बहस का सर्जनात्मक दस्तावेज है जिसमें भाग लेने का लोभ संवरण कर पाना कठिन है, यह अपनाया संक्रामक है- स्वयं से अस्वयं होना ।

रामविलास शर्मा की कृति "भाषा और समाज" पर विद्यानिवास मिश्र ने अपने निष्कर्ष में यह स्थापना ही थी कि "एक तो यह कि भाषा का अध्ययन उनकी ध्वनि प्रकृति, भाव-प्रकृति और मूल शब्द भंडार को दृष्टि में रखकर करना चाहिये, दूसरी यह कि भाषा के रूप और उसकी विषय वस्तु पर उन अंतर्विरोधों का प्रभाव पड़ता है, जो सामाजिक विकास के कारण होते हैं, चाहे वह उस समय के बाहर से उद्भूत हों या उसके भीतर से, और अंतिम यह कि नस्ल और भाषा का समवाय संबंध नहीं है ।" ज्ञातव्य हैकि इस पर पिछले अध्याय में समुचित चर्चा की गई है ।

देवराज की संस्कृति विषयक मान्यताओं की पुस्तक पर संगमलाल पाण्डेय ने लिखा कि यह "मूल्य विज्ञान" या "मूल्य मीमांसा" का ग्रंथ है । इस पर भी काफी गर्मागर्म बहस हुई है जिसकी समुचित चर्चा पीछे उल्लिखित है ।

डॉ0 नगेन्द्र की कृति "रस सिद्धांत" की समीक्षा जगदीश गुप्त ने दो खंडों

में करके उसकी गहरी पड़ताल की है । इस ग्रंथ पर डॉ0 गुप्त का यह आरोप था कि डॉ0 नगेन्द्र ने कामशास्त्र को बिना हिचक के अथर्ववेद और नाट्यशास्त्र के बीच स्थापित कर दिया, इस पर उन्हें एक और कारण दिखाई देता है और वह है- आधुनिक मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में रस और रस के अंगों की व्याख्या ।

"कामायनी" के पुनर्मूल्यांकन से संबंधित अपने आलेख में रामस्वरूप चतुर्वेदी ने निष्कर्ष दिया था कि महाकाव्य के तौर पर, रूपक या ऐतिहासिक पौराणिक विधान के तौर पर या उसमें चरित्र, रस या मात्र दर्शन की भूमिका को लेकर मूल्यांकर करने से "कामायनी" के साथ न्याय नहीं होता । कहना न होगा कि डॉ0 चतुर्वेदी ने अपने नूतन निकषों के आधार पर "कामायनी" को सफलतापूर्वक जांचने का यत्न किया है ।

"विचार की आलोचना" के तहत अंतिम निबंध बच्चन सिंह का है, जिस का शीर्षक है- "समकालीन साहित्य: आलोचना की चुनौती" । ज्ञातव्य है कि यह निबंध समकालीन साहित्य को परखने के स्तर पर आलोचना की चुकती जा रही दृष्टि पर प्रकाश डालता है । बच्चन सिंह ने अपने निबंध में लिखा कि पुराने साहित्य के मूल्यांकन के ढर्रे बंध गये हैं । उनके मान सुनिश्चित हैं । उनके आधार पर अब उनका भी मूल्यांकन संभव नहीं है । कृतियाँ वही होती हैं, हम बदल जाते हैं, ज़माना बदल जाता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि "विचार की आलोचना" में "विवेचना" ने कई प्रासंगिक और विचारोत्तेजक प्रश्न उठाकर आलोचना को अपना परीक्षण करने और दोषों के परिहार का यत्न करने को प्रेरित किया । इस स्तर पर भी "विवेचना" का कार्य कम महत्वपूर्ण नहीं है ।

इसी क्रम में यह संकेत कर देना प्रासंगिक लगता है कि "विवेचना" के तहत होने वाली चर्चाओं और कृति की समीक्षाओं से किसी भी दूसरी पत्रिका की तुलना असंभव है । असंभव इस अर्थ में कि उस समय (1964-1969) जो पत्रिकाएँ निरंतर प्रकाशित होती थीं उनमें अधिकांश या तो सर्जनात्मक

विधाओं पर केन्द्रित थीं या आलोचना पर । "कृति", "ज्ञानोदय", "कल्पना" और "आलोचना" में "कृति" और "ज्ञानोदय" शुद्ध सर्जनात्मक विधाओं की पत्रिकाएं थीं जिनमें पुस्तक आलोचना की "माध्यम" जैसी कोई योजना नहीं थी । "आलोचना" तो शुद्ध सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना पर केन्द्रित थी इसलिये उससे "माध्यम" की तुलना उचित नहीं ।

केवल "कल्पना" ही एक मात्र ऐसी पत्रिका थी जो सर्जनात्मक विधाओं के साथ-साथ पुस्तक आलोचना पर भी यथासंभव ध्यान देती थी । फिर भी उसमें "पुस्तक समीक्षा" का नियमित स्तंभ परिचयात्मक समीक्षा का होता था जिससे "विवेचना" के तहत होने वाली पुस्तक समीक्षा को नहीं जोड़ा जा सकता । 1949 से लेकर 1971 तक के लंबे समय में "कल्पना" ने कभी-कभार कुछ पुस्तकों पर स्वतंत्र चर्चा कराया है, लेकिन "माध्यम" की "विवेचना" की प्रकृति से उसकी प्रकृति भिन्न है और इस स्तर पर "माध्यम" का कार्य अपने ढंग का अकेला प्रयास ठहरता है जो किसी उपलब्धि से कम नहीं है ।

****

"माध्यम" की विषयानुक्रमणिका

(मई 1964 से जुलाई 1969 तक)

1. कविता की आलोचना

अंबादत्त वाजपेयी

मुकुटधर पाण्डेय: अपने स्मृति संदर्भों में - 2

अंबाप्रसाद श्रीवास्तव

गुमसुम उपलब्धियाँ - 41

अशोक वाजपेयी

समकालीन आलोचना, नई कविता और उसका मूल्यांकन - 3

अनवर आगेवान

तस्लता दत्त - 4

आशारानी व्होरा

काव्य की लय - 60

उदयभान मिश्र

नई कविता के नए गीत का संदर्भ - 4

नई कविता के गीत और नवगीत - 33

इंदुकांत शुक्ल

नीग्रो कविता एक आकलन - 40

इलवा वुलुरि

तेलुगु महाभारत - 47

कुबेरनाथ राय

एक वैष्णव योद्धा - 48

कुमार विमल

बीट जेनरेशन - 7, 19

कुंतल गोयल

छत्तीसगढ़ी नृत्य गीत - 42

कांति कुमार

केशव पाठक और उनका काव्य - 41

गंगाप्रसाद पाण्डेय

अंतरात्मा की पीड़ित विवेक चेतना,
काव्य में गीत तत्व की सनायतनता - 7, 8

गंगा प्रसाद गुप्त

साठोतरी पीढ़ी: कविता की गूंज - 30

गंगा प्रसाद विमल

मुक्तिबोध का काव्य - 29
अज्ञेय का रचना संसार - 45

गोपालकृष्ण द्विवेदी

नई कविता में प्रकृति सौंदर्य - 55

गोपी कृष्ण शुक्ल

नवगीत - 27

गोविन्द रजनीश

संक्रांतिकालीन हिन्दी कविता और प्रवृत्यात्मक विरोधाभास - 31

चावलि सुर्यनारायण

तेलुगु का रामायण साहित्य - 47

जवाहरलाल हंडू

कश्मीरी लोक गीत - 42

दशरथराज

सांस्कृतिक काव्य और सियारामशरण गुप्त - 62

दिनकर सोनलकर

माखनलाल का काव्य - 60

देवराज

काव्य भाषा - 8, 20

देवीशंकर अवस्थी

समकालीनता का संदर्भ और अध्ययन विधि - 2, 14

देवीशंकर अवस्थी

संस्कृत काव्य ग्रंथों का हिन्दी रूपांतरण - 60

नर्मदा प्रसाद त्रिपाठी

मुक्तबोध स्मृति - 11

निदा फाज़ली

उर्दू कविता: नए आयाम गूंगे स्वर - 54

नूर नक़वी

ज़िगर के काव्य में प्रेम की परिकल्पना - 32

परमानंद श्रीवास्तव

सर्जन प्रक्रिया की खोज - 29

प्रफुल्ल कुमार सिंह "मौन"

थारू लोकगीत - 52

प्रभात कुमार त्रिपाठी

अंचल का नया काव्य और समकालीनता - 28

प्रमिला शर्मा

भोग की प्रक्रिया, नई कविता और आस्था - 52

बालकृष्ण राव

रत्नाकर: व्यक्तित्व का साकल्य - 30

बच्चन सिंह

कविता और नई कविता - 10

बीरेन्द्र मिश्र

हिंदी नवगीत - 7

भीमसेन निर्मल

नादेल्ल पुरूषोत्तम कवि - 52

मालती शर्मा

देवठान और उसका गीत - 39

यदुनाथ सिंह

हिंदी काव्य में मुक्तछंद: प्रयोग और परंपरा - 31

यशदेव शल्य

आधुनिकता, दर्शन और कविता - 60

रणजीत

नरेश मेहता की कविताएँ - 51
कवि वीरेंद्र जैन - 36

रमाशंकर तिवारी

काव्य के मूल्यांकन की कसौटी - 46, 47

रमेशचंद्र शाह

एक विस्थापना - 62

राममूर्ति रेणु

त्यागराज और तुलसीदास - 52

रघुवीर सहाय

आज के संकट में एक ख़ास आदमी की जिम्मेवारी - 8

रामलखन शुक्ल

नई कविता और साधारणीकरण - 40

राजेंद्र सिंह

अंतिम साहित्यक भेंट (मुक्तिबोध से) - 29

रामदेव आचार्य

नई कविता रूप और शिला - 52

रामस्वरूप चतुर्वेदी

रत्नाकार और ह्रासोन्मुख रीति परंपरा - 30

रामकृष्ण दास

आशु कवित्व - 62

लक्ष्मीकांत वर्मा

प्रयोगवाद का ऐतिहासिक मूल्यांकन- 29, 30

लोठार लुत्से

तीन छोटी हिन्दी कविताएँ - 30

वासुदेवशरण अग्रवाल

जायसी का बिंब प्रतिबिंबभाव - 62

वारीन्द्र कुमार वर्मा

काव्य की सर्जन प्रक्रिया - 62

विरदुराजु रामराजु

आंध्र का लोकगीत - 52

विजय बहादुर सिंह

आधुनिकता और हिंदी कविता - 53

विश्वेश्वर ठाकुर

मुक्तिबोध की कविता और हिन्दी पाठक - 29

बी0 सत्यनारायण

तेलुगू महाभारत - 52

वीरेंद्र सिंह

आधुनिक भावबोध: वैज्ञानिक चिंताधारा - 41

वीरेंद्र कुमार गुप्त

बच्चन एक मूल्यांकन- 56

वीर कुमार अधीर

अनुभूति और ध्वनि - 36

श्याम परमार

तार सप्तक का पुनर्मूल्यांकन - 7, 19

श्याम सुंदर घोष

नई कविता और सप्तक - 6, 18

नई कविता और निराला - 58

श्रीवत्स

आज की तेलुगू कविता- 52

शैलेश ज़ैदी

उर्दू साहित्यालोचन - 63

सकलदीप सिंह

नवगीत बनाम भावुकता का अंतिम दौर - 13

सुबिमल बसाक

मस्तिष्क, आंखें तथा घ्राण शक्ति - 61

सूर्य प्रकाश दीक्षित

साकेत का प्रतिपाद्य - 6, 18

हरिश्चन्द्र वर्मा

नई कविता और काव्यों का प्रश्न- 46

2. कथा साहित्य की आलोचना

अनंत

कहानी में यथार्थ और समय बोध- 12/ 24

अप्पाराव

तेलुगू का नाट्य साहित्य- 3, 4/68

इन्द्रनाथ मदान

आधुनिकता और हिन्दी कहानी- 3/ 15

उपेन्द्रनाथ अश्क

हिन्दी नाटक साहित्य पर रेडियो का प्रभाव- 1/ 67

ओम प्रभाकर

अकहानी नहीं होगी- 3/ 15

कमल किशोर

हिंदी कथा- चर्चा गोष्ठी- 5/ 17

कृष्णनारायण कक्कड़

संकट काल और लेखक- 3

कांति कुमार

कविवर निराला का औपन्यासिक कृतित्व- 7

कोमल सिंह सोलंकी

नई कहानी की दिशा - 11/ 23

गोपाल राय

प्रेमचंद के आरंभिक उपन्यास- 10/ 67

चेलिशेव

यशपाल और उनका झूठा सच- 8/ 68

जगदीश चतुर्वेदी

कथा कृतियों का मूल्यांकन- 11/ 23

जगदीश वोरा

पी० लक्ष्मीकांतम् से साक्षात्कार - 5/ 69

ठाकुर घनश्याम नारायण सिंह

वृन्दावन लाल वर्मा- 6/ 69

दिनकर

शेक्सपीयर- 3

दिगंबर झा

दिशाहीन जन जीवन और साहित्यकार का दायित्व- 13

देवराज उपाध्याय

उपन्यास- 4/67

धनंजय

नई कहानी और सचेतन दृष्टि - 8/ 67

धनंजय वर्मा

उपन्यास की रचना प्रक्रिया- 9/ 67

नंद जी

चित्रलेखा की समस्या - 12/ 67

परेश

कहानी की वर्तमान स्थिति

पृथ्वीनाथ शास्त्री

प्रहरों के राजहंस- 12

बटरोही

आज की कहानी- एक बहस- 5/ 17

भीमसेन निर्मल

तेलुगू का कथा-साहित्य- 3, 4/ 68

मन्मथनाथ गुप्त

कहानी से अकहानी- 3/ 15

मलयज

सर्जन और चिंतन- 2

मानिकचंद्र

नई कहानी और कथानक का ह्रास- 3/ 15

रत्नलाल शर्मा

66 की हिंदी कहानी- 6/ 67

रामस्वरूप चतुर्वेदी

जीवन और नई कहानी- 12/ 24

कहानी का माध्यम और आधुनिक भावबोध- 2

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

सामयिक हिन्दी कहानी- 11/ 23

लक्ष्मीकांत वर्मा

हिन्दी कहानी श्लीलता-अश्लीलता- 6/ 66

विजय कुमार शुक्ल

काव्य नाटक या नाटक काव्य - 9/ 21

विपिन कुमार अग्रवाल

नाटक कैसा, क्यों और किस लिये - 7/ 66

विजय बापट

नाटक का निकष: रंगमंच- 7/ 67

शिवचंद्र प्रताप

बेनीपुरी से साक्षात्कार - 3/ 69

शैलेन्द्र कुमार

निबंधकार हजारी प्रसाद द्विवेदी - 10/ 67

सुरेश अवस्थी

शेक्सपीयर की चतुर्थ जन्मशती

सुरेश सिन्हा

नई कहानी का कलात्मक-परिपार्श्व - 1/ 69

सत्यव्रत सिन्हा

हिन्दी रंगमंच: कुछ जिज्ञासाएँ- 3

हिमांशु श्रीवास्तव

रेडियो नाटक और ध्वनि प्रभाव - 1/ 67

****

विचार की आलोचना

अजित कुमार

सामयिक आलोचना - 6/ 68

अवनींद्र विद्यालंकार

करूण रस कितना अलौकिक - 11/ 23

अशोक कुमार झा

आधुनिक भाव बोध

आरिगपूडि

साहित्य और अनुशीलन - 5/ 68

इंद्रनाथ मदान

आलोचक की समस्या - 1/ 68
साहित्य में नया चिंतन - 12/ 66

उदयभान मिश्र

एक प्रश्न: सामयिक आलोचना - 9

उमेश जोशी

साहित्यिक उपवन - 17/ 66

अंजनी कुमार सिन्हा

इलियट और भारतीय कविता - 5/ 67

कस्तुर चंद जैन

आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी - 12/ 66

कार्त्तिक प्रसाद डोगरा

पाटलिपुत्र - 2/ 68

कुबेर नाथ राय

मृगशिरा

कुमार

साहित्य और युग चेतना - 1/ 69

कुमार विमल

सौन्दर्य शास्त्र का नव्यतम रूप - 6/ 68

के॰एन॰ विश्वंभरन

केरल का लोक साहित्य और संस्कृति - 5/ 66

करूणापति त्रिपाठी

नव्य समीक्षा के उपादान - 10/ 66

कुंवर अजय सिंह

कथा गोष्ठी - 1/

गजेन्द्र तिवारी

नवलेखन और समीक्षा - 10/ 67

गणेश मंत्री

यंत्र मानव और वरण की स्वतंत्रता - 8/ 67

गोविन्द रजनीश

अंह और अहंवाद - 9/ 68

पृथ्वी नाथ शास्त्री

साहित्य और आलोचना - 5/ 68

प्रभाकर श्रोत्रिय

राष्ट्रीयता का एक पहलू राष्ट्रभाषा - 8/66

प्रेमलाल भट्ट

नया साहित्य, युगबोध या युगभ्रम - 9 /68

बच्चन सिंह

समकालीन साहित्य और आलोचना की चुनौती

भगवती प्रसाद पांधरी

पुष्यमित्र शुंग - 3/ 69

भगिरथ मिश्र

आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी - 1/ 68

मधुरेश

यशपाल कुछ पत्र - 11/ 68

मुद्राराक्षस

रचनात्मक साहित्य - 1/69

मोहन

हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक काल का नया नाम - 10/ 67

यशदेव शल्य

धर्म का स्वरूप - 1/ 69

गंगा प्रसाद

यथार्थ-बोध एक परिव्याप्ति का प्रश्न - 11/ 66

तारिणी चरण दास

भाषा एक मुक्त चिंतन - 2/ 67

दिवाकर साहु

मानववाद - 7/ 69

देवेन्द्र इस्सर

चक्रव्यूह में भोग की प्रक्रिया - 8/ 67

धमेन्द्र गोयल

शांति और रंगीन मानवता - 7/ 68

नंद कुमार राय

डॉ0 देवराज की समीक्षा पद्धति - 6/67

नवल किशोर

सार्त्र अस्तित्ववादी मानववाद - 12

पद्मधर त्रिपाठी

नवलेखन परिवेश: प्रक्रिया - 10/ 66

परमानंद श्रीवास्तव

सर्जन प्रक्रिया और प्रेषणीयता की समस्या - 16

प्रकाश तिवारी

संस्कृति: परिवेश और प्रकण - 3/ 67

विश्वम्भर नाथ उपाध्याय

सर्जन प्रक्रिया में सापेक्षतावाद

रूचि का सामाजिक अध्ययन - 8/ 67

विष्णु चंद्र शर्मा

नियतिवाद और दु:खवाद - 3/67

विष्णु प्रभाकर

अश्लीलता कहाँ - 7/ 66

विश्वैन्द्र ठाकुर

समसामयिक परिवेश और आस्था की समस्या - 7/ 19

शिव कुमार मिश्र

आधुनिकता बनाम भारतीयता - 1/ 66

शिव प्रसाद सिंह

आदमी माने ब्रेकफा बंडल

भारतीय परिवेश - संपूर्णानंद

शील अवधेय

पाश्चात्य विषाद और भारतीय शास्त्रार्थ - 6/ 68

संगमलाल पांडेय

नया वेदांत - 11/ 64

हरेकृष्ण देवसरे

बाल-साहित्य के नये प्रतिमान

रवीन्द्र भ्रमर

पराधीनता के संस्कार

रसिक बिहारी

विज्ञान बनाम साहित्य - 8/ 68

सिंहल का लोक साहित्य - 11/ 68

राज शेखर

मूल्य : जापान, अमेरीका, भारत

रामप्रताप त्रिपाठी

अविमारक का प्रणय प्रसंग - 2/ 68

[I भास के नाटक पर]

रामदेव आचार्य

प्रतिवद्धता - 7/ 69

रामस्वरूप चतुर्वेदी

समीक्षक औरअध्यापन - 1/ 69

विजयेन्द्र नाO सिंह

व्यावहारिक समीक्षा का स्वरूप - 7/ 69

विलास गुप्ते

अत्याधुनिक संस्कृति और शब्दों के केंचुल - 10/66

विश्वनाथ अय्यर

केरल का सम सामयिक साहित्य - 5/ 66

योगेन्द्र नाथ मिश्र

क्या सभ्यता का अंत हो जाएगा - 2/ 68

योगेन्द्र सिंह

मानव मूल्य तथा काव्य-बोध - 1/ 69

रघुवंश

हमारी बौद्धिक परिस्थिति और पश्चिमी दृष्टि

रघुवंश

आधुनिकता: सृजनशीलता के नये संदर्भ - 7/ 67

रजनीश

जीवन की अदृश्य जड़ें - 12/ 66

रणजीत

श्रावक का मनोदर्शन -

रमाशंकर तिवारी

रस सिद्धान्त पुनर्विचार - 10/ 66

रमेश कुन्तल मेघ

मिथक और मनीविश्लेषण
आधुनिक सर्जनात्मकता के बाधक तत्व - 1/ 67
भारतीय बुद्धिजीवियों का आत्मपरायापन - 2/ 67

रमेश दत्त दीक्षित

साहित्य और परंपरा - 12/ 68

"विवेचना" के निबंध

इन्द्रनाथ मदान

झूठा-सच (यशपाल) - 7/ 19

इलाचंद्र जोशी

अंधेरे बंद कमरे (मोहन राकेश) " 10

गंगा प्रसाद विमल

एक कटी हुई जिन्दगी (लक्ष्मीकांत वर्मा) - 4/ 8

जगदीश गुप्त

रस सिद्धान्त (नगेन्द्र) - 11/ 23, 24
गर्म हवाएँ (सर्वेश्वर) "कल्पना" - 2/ 32

देवीशंकर अवस्थी

चारू चन्द्र लेख (हजारी प्रसाद द्विवेदी) - 1

नामवर सिंह

एक साहित्यिक की डायरी (मुक्तिबोध)- 7

नागेश्वर लाल

मछली घर (विजयदेव नारायण साही) - 5/ 3
सीढ़ियों पर धूप में (रघुवीर सहाय)

नेमिचंद्र जैन

यह पथ बंधु था (नरेश मेहता) - 4

प्रयागनारायण त्रिपाठी

उर्वशी (दिनकर) - 3/ 2

प्रेमशंकर

सागर, लहरें और मनुष्य (उदयशंकर भट्ट) - 3/12

बच्चन सिंह

शहर में घूमता आईना (उपेन्द्रनाथ अश्क) - 7

ब्रजेश्वर वर्मा

गोपिका (सियारामशरण गुप्त)

बालकृष्ण राव

बच्चन की कविता - 12
शिलापंख चमकीले - 3/ 11

भारतभूषण अग्रवाल

हम विषपायी जनम के (बालकृष्ण शर्मा "नवीन") - 9

रघुवंश

बूंद और समुद्र (अमृतलाल नागर) - 13

रमेशचन्द्र शाह

आत्महत्या के विरुद्ध (रघुवीर सहाय) - 5/ 5

रामस्वरूप चतुर्वेदी

अपने-अपने अजनबी (अज्ञेय) - 5
"कामायनी" का पुनर्मूल्यांकन (लक्ष्मीकांत वर्मा) - 4/ 6
आँगन के पार द्वार (अज्ञेय) - 3/ 7

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

भूले बिसरे चित्र (भगवतीचरण वर्मा) - 6/ 18

विद्यानिवास मिश्र

भाषा और समाज (रामविलास शर्मा) - 5

शंभुनाथ सिंह

"उत्तर जय", "प्यासा निर्झर" (नरेन्द्र शर्मा) - 3/ 15

श्रीकांत वर्मा

नचिकेता के बावजूद (कुंवर नारायण) - 5/17

श्रीराम वर्मा

कद्दावर गिर गिट और हरी दीवार (राजकमल चौधरी) - 4/ 2

शिवप्रसाद सिंह

"जलती झाड़ी" और "वे दिन" - 4/16
मांस का दरिया (कमलेश्वर) - 4/ 9
फौलाद का आकाश (मोहन राकेश) - 4/ 9

सावित्री सिन्हा

लोकायतन (पंत) - 2/ 14

संगमलाल पाण्डेय

संस्कृति का दार्शनिक विवेचन (देवराज) - 3/10

हरिनारायण व्यास

चाँद का मुंह टेढ़ा है (मुक्तिबोध) - 3/ 5

हर्ष नारायण

समय और हम (जैनेन्द्र) - 2

****